बोधि-पथ

Bodhi Path

ISSN 2347-8004 Bodhi Path
पंजीकरण संख्या-DELBIL/2011/41024

★ Half-yearly Bilingual Buddhism , Philosophy and UGC Approved Journal

★ जुलाई 2017, अंक - तेहरवां, द्विभाषिक छमाही पत्रिका

Budha Education Foundation
Ph.: 9968262935, 8447637374, Web: http://bodhi-path.com

ISSN 2347-8004

बोधि–पथ

वर्ष : जुलाई 2017, अंकः 13 द्विभाषिक छमाही पत्रिका

प्रकाशक
भिक्खु विश्वबन्धु, चैयरमेन,
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट)

संरक्षक
प्रोफेसर नरेशमान, वज्राचार्य, कुलपति
लुम्बिनी दिल्ली विश्वविद्यालय, लुम्बिनी, नेपाल।

सलाहकार
प्रो.के.टी.एस.सराओ, विभागाध्यक्ष
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
प्रो. हीरापॉल गंगनेगी,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
डॉ आई.एन.सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।प्रोफेसर
डॉ सुभ्रा बरूआ पावागड़ी, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।
डॉ आर. के. राणा, एसोसिएट प्रोफेसर,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

सम्पादक
डॉ संघमित्रा बौद्ध,
बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

उप–सम्पादक (अंग्रजी)
डॉ अमिता कपूर
एसोसिएट प्रोफेसर,
शहीद राजगुरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय।

वेबसाइट व्यवस्थापक
श्री नरोत्तम सिंह
लेखक व हीलर

राज्य ब्यूरो
दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, उत्तरांचल, उत्तराखण्ड,
मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार,
वेस्ट बंगाल।

वितरण
बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध विहार,
तीसरी मंजिल, एच–2/48 सै॰16, रोहिणी, दिल्ली–110089

नोट : सम्पादक मण्डल के नियुक्त सभी पदाधिकारी अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं ।

बोधि–पथ पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं ।आवश्यक नहीं कि प्रकाशक व सम्पादक उनसे सहमत हों ।

प्रकाशक, मुद्रक एवं स्वामित्व धारक **भिक्खु विश्वबन्धु** के लिए स्टार फार्म, 8710, रोशनारा रोड, सब्जी मंडी, दिल्ली–110007 से मुद्रित एवं बुद्धा ऐजूकेशन फाउण्डेशन (ट्रस्ट), मैत्रेय बुद्ध, विहार, तीसरी मंजिल, एच–2/48, सै. 16, रोहिणी, दिल्ली–110089 से प्रकाशित । सम्पादक का नाम और पता : **डॉ. संघमित्रा बौद्ध,** तृतीय तल, एच–2/48, सै. –16, रोहिणी, दिल्ली–110089

अनुक्रमणिका

संपादकीय	**डॉ संघमित्रा बौद्ध**	01
थेर एवं थेरीगाथा में बिम्ब–विधान	**भिक्षु (डॉ॰) प्रज्ञापाल**	02
सिंहल में ऐतिहासिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य में पालि वंस साहित्य का महत्व	**डा संघमित्रा बौद्ध**	08
लुम्बिनी तीर्थ स्थल के स्तूपों का संक्षिप्त वर्णन	**डॉ0 कामेश्वर प्रसाद**	12
पालि साहित्य में विपस्सना का स्वरूप	**अनिल कुमार मौर्य**	14
बौद्ध–साहित्य में धम्मपद का स्थान	**शत्रुध्न कुमार**	17
कनिष्क के स्वर्ण सिक्कों पर ईरानी प्रभाव	**सुमन कुमारी**	21
बौद्ध–धर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान	**मेधावी कृष्णा**	24
Lifecycle of butterfly and true nature of things	**Dr. Amita Kapoor Narotam Singh**	27
An Evaluation of the Concept of Prajñā-pāramitā in Buddhism	**Nguyen Van Nhut**	30
Holistic Point of Theravāda Tradition on Environmental Sustainability: ASEAN Countries Perspective	**Mohd Irshad**	34
Religion as a means of Global Peace	**Ashwani Kumar**	38
Characteristics of Buddhist Arts in Amarāvatī	**Kazumi Okabe**	44
Panel		48

E-mail:baudhs@yahoo.com,buddhaedu@ymail.com
sanghmb@gmail.com
Web: http://bodhi-path.com
Contact No. - 9968262935, 8447637374

Subscriptions
Single copy Rs. 50/- Annual Rs.100/-
Life Rs. 5000/-
Publication Charges (To be given only when paper is accepted) Rs. 1000/-(each paper) Subscriptions may please be sent by Cash, Cheque and D.D, in favour of "Buddha Education Foundation" , A/C-3007101001960, Cenara bank, Rockfield School, Sec- 16, Rohini, delhi-110089.

संपादकीय

सम्पादक की कलम से ...

ईसा पर्व छठी शताब्दी में जब तथागत बुद्ध का आविर्भाव हुआ, लोग अपने त्यागमय आदर्शों से च्युत हो रहे थे। विद्वज्जगत् में नियमन के बिना अराजकता का विस्तार था। आध्यात्मिक विषयों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। एक और संशयवाद की प्रभूता थी, दूसरी ओर अन्धविश्वास की। दर्शन के मूल तथ्यों का अत्याधिक गंभीर मनन इस युग की विशेषता थी। विचार के साथ ही सदाचार का ह्रास हो रहा था। धर्म के बाह्य अनुष्ठानों ने धर्म के मूल विशेषताओं को भुला दिया था। आडम्बरों, देवतावाद, एकेश्वरवाद और कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की ओर आश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता था।

तथागत बुद्ध ने अनाचार से सदाचार की ओर तथा अन्धविश्वास से तर्क का मार्ग प्रशस्त किया। मानवता के प्रति लोगों के हृदय में आदर का भाव बढ़ाया। निर्वाण की प्राप्ति व्यक्ति के प्रयत्नों के आधार पर साध्य बतलाई तथा वैराग्य की पवित्रता को प्रदर्शित किया।

बुद्ध का धर्म एक व्यवाहारिक धर्म है। इसमें आचार–व्यवहार के साथ–साथ नैतिकता की शिक्षा भी समाहित है, जो पंचशील पर आधारित है। मानसिक, कायिक एवं वाचिक धर्मों को पूर्ण रूप से ग्रहण करना ही पंचशील है। यह सभी गुणों का मूल ह। बुद्ध का मार्ग साधना का उत्कृष्ट मार्ग है। बुद्ध–धर्म एक सार्वभौमिक धर्म है। यह किसी जाति, समूह, देश, विदेश, व्यक्ति और धर्म शास्त्र तक सीमित नहीं है। जिसका आधार बौद्धिक अर्थात् बुद्धि पर आधारित है।

अतः समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ एवं स्थायी शान्ति बुद्ध द्वारा निर्मित बुद्ध शासन में ही निहित है। क्योंकि यह साम्प्रदायिकता की बेड़ियों से बंधा हुआ नहीं है। इसमें लौकिक शक्तियों की परिकल्पना नहीं है और न उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए कोई नियम हैं। इसमें केवल शुद्ध नैतिक चर्या का निष्पादन है। जिसका उद्देश्य यह है कि हम शुद्ध आचरण द्वारा संसार का पुननिर्माण करके विश्व शान्ति की स्थापना करें।

आज के हिंसोन्माद–ग्रस्त एवं स्वार्थ–परायण समाज के परिप्रेख्य में बुद्ध की वह वाणी, उनके संदेश हमारे लिए और भी प्रासंगिक हो गये हैं। आज उनकी नैतिकता की शिक्षाओं को जन–जन तक पहुँचाने की आवश्यकता अनिवार्य हो गयी है।

प्रस्तुत बोधि–पथ के माध्यम से बुद्ध का अमर संदेश आप तक पहुंचाने का यह एक विनम्र प्रयास है। पत्रिका के समृद्ध सम्पादन में उन समस्त लेखकों व विद्वज्जनों का हम हृदय से आभार व्यक्त करते हैं जिनके लेखों एवं बहुमूल्य सुझाव द्वारा यह कार्य पूर्ण किया गया। इससे आपके ज्ञान–भण्डार में कुछ वृद्धि हुई तो हम अपना प्रयास सफल समझेगें।

भवतु सब्ब मंगलं!

डॉ संघमित्रा बौद्ध

थेर एवं थेरीगाथा में बिम्ब-विधान

भिक्षु (डॉ०) प्रज्ञापाल, शोध-सहायक, पालि-हिन्दी शब्दकोष, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

काव्य–कला की दृष्टि से पालि साहित्य भी अन्य भारतीय साहित्यों के समकक्ष है। बुद्धवचन में संकलित सुत्तनिपात, धम्मपद, अपदान, बुद्धवंस, थेरगाथा, थेरीगाथा काव्य की हर विधाओं की दृष्टि से अग्रगण्य है। बुद्धवचनों के इतर अनागतवंस, तेलकटाहगाथा, जिनालंकार, जिनचरित, पज्जमधु, सद्धम्मोपायन, पंचगतिदीपन, लोकदीपसार आदि रचनाओं में सौन्दर्यशास्त्र का अद्‌भूत पुट प्राप्त होता है। इनमें भाव एवं विचारों की अभिव्यक्ति कल्पना की भूमि पर नहीं यथार्थ की धरातल पर टिकी है।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जो पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की आधुनिकतम उपलब्धियों से आश्चर्यजनक साम्य रखते हैं। इसका कारण है कि भारतीय सौन्दर्य चिंतन की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उसमें प्रायः सभी आधुनिक एवं अत्याधुनिक विचारणाओं के बीज सुरक्षित हैं। क्रोंचे का नूतन अभिव्यंजनावाद बुद्धघोष के कला सिद्धान्त से साम्य रखता है। बुद्धघोष ने बहुत पूर्व यह उद्‌भावना की थी कि चित्र का सहज ज्ञान ही सौन्दर्य विधान या कला में अभिव्यक्त होता है। बिम्ब, प्रतीक, चित्र, रंग इत्यादि जैसी चीजे उस सहज ज्ञान के व्यक्तिकरण में केवल माध्यम का काम करती है इस प्रकार की समग्र अभिव्यक्ति चित्त की स्वयम्भू क्रिया का वस्तुनिष्ठ प्रक्षेपण है। अतः बुद्धघोष के अनुसार जैसा कि दासगुप्त ने कहा है– ''सौन्दर्य विधान या कला वाह्य न होकर आन्तर है और उसका नित्य सम्बन्ध आंतरिक सहज ज्ञान की सृजनात्मक चेतना के साथ निर्भर है।''1 इतना ही नहीं दासगुप्त का यह भी कहना है कि बुद्धघोष ने ही प्रथम सहज ज्ञान (क्रोंचे का इण्ट्यूशन) को अत्यधिक महत्त्व दिया है।

बुद्धघोष बुद्धवचन के अट्ठकथाकार थे। बुद्धवचन बाहरी शक्तियों को दरकिनार कर ''अत्त दीपो भव'' की चिन्तन धारा में दर्शन का उद्‌घोष करते हैं। बुद्धघोष और क्रोंचे का सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्त में साम्य है। विमसेत और ब्रुक्स के शब्दो में कहा जाये तो ठीक ही है– ''वे (क्रोंचे) कलाकार्य के दर्शन का अनन्य भाव से वैयक्तिक संगठन के रुप में और आत्म अभिव्यंजना होने के नाते स्वयं अपने ही नियमों से शासित सर्जना के रूप में ध्रुवीकरण करते हैं जो अपने से वाह्य किसी वस्तु के नियमों से शासित नहीं होते।''2

बुद्धघोष का आन्तरिक सहजज्ञान और क्रोंचे का सहजानुभूति दोनों आन्तरिक है। कल्पना द्वारा वाह्य संवदेनाओं का मन के स्तर पर रूप या बिम्ब का बोध सहजानुभूति है। यह अनुभूति ही कला है। कला तभी पूर्ण हो जाती है जब हमारे मानस में ही बिम्ब निर्माण के माध्यम से कविता या चित्र या मूर्त्ति का रूप अभिव्यंजित करती है इस पर क्रोंचे का कथन उद्धृत करते हुए स्कॉट जेम्स का कहना है– ''कलाकृति (सौन्दर्य कर्म) सदा आंतरिक होती है और जो वाह्य कहीं जाती है वह कलाकृति रहती ही नहीं।''

प्रस्तुत संदर्भ में थेर एवं थेरीगाथा का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन बिम्ब–विधान के आलोक में अभिधेय है। क्रोंचे के अनुसार कला की सृजन प्रक्रिया में उद्दीपन, कल्पना और बिम्ब विधान के माध्यम से मानस स्तर पर अभिव्यंजना पूर्ण हो जाती है और उसी स्तर पर कलाकृति भी शब्द, रंग, रेखा, आकार या स्वर की परिकल्पना के रूप में पूर्ण होकर प्रगीतात्मक सहजानुभूति (लिरिकल इण्ट्यूशन) या तन्मय आनन्दानुभूति को जन्म देती है।4 थेर एवं थेरीगाथा के सभी थेर एवं थेरियां अर्हत्व प्राप्ति के बाद अपने पूर्व जीवन की अनुभूतियों को गाथाओं के माध्यम से चित्रित करती है, जहाँ तन्मय आनन्दानुभूति को जन्म देती नजर आती है।

काव्य कला के चार तत्त्वों– सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक में बिम्ब सौन्दर्य शास्त्र का मुख्य तत्त्व है। बिम्ब भावों की रूपात्मक अभिव्यक्ति है। कल्पनाओं से प्रसूत मानसिक चित्र है। काव्य कला में बिम्ब अप्रस्तुत विधान का प्रस्तुत चित्र विधान है। काव्य जगत में उपमा, प्रतीक, रुपक आदि काल्पनिक मनोवृत्तियों का प्रसंगानुकूल काव्य चातुर्य से बिम्ब चक्षु,

स्रोत, घ्राण, जिह्वा और काय द्वारा तद् तद् विषयों के अनुरूप रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श के द्वारा सृजित होते हैं। संस्कृत काव्य जगत में दृष्टि और ध्वनि पर निर्भर बिम्ब अधिक मिलते हैं जहाँ जगत का व्यापार स्वर्गाभिमुख और ऐश्वर्यात्मक हैं। निर्गुण भक्ति शाखा में बिम्ब का निर्माण रहस्यात्मक है। छायावाद कालीन काव्यनुभूति रहस्यात्मकता का चित्र प्राकृतिक उपादानों में मानवता का अनुगुंज है। छायावादी कवियों ने बिम्ब के लिए चित्र शब्द का प्रयोग किया है।5 थेर एवं थेरीगाथा के सभी भिक्षु और भिक्षुणियां सम्पूर्ण सांसारिक ऐश्वर्यो को तिलांजलि देकर निर्वाण की लालसा में संघ में प्रवजित हुई, उन्हें सांसारिक ऐन्द्रिय सुखों का लेशमात्र आकर्षण नहीं है। यहाँ इन थेर थेरियों की छट्ठी इन्द्रिय कार्यशील है और सम्पूर्ण कल्पना जगत की वास्तविक रूपात्मक अभिव्यक्ति चित्रित होती नजर आती है। यहाँ दानशीलता, ईमानदार प्रेम का भाववाची बिम्ब पैदा होते हैं।

प्रस्तुत रचना की सभी थेर एवं थेरियां काव्य कला पारंगत हैं। सौन्दर्य चेतना से सम्बद्ध सभी उत्कृष्टतायें उनके बिम्ब–विधान में परिलक्षित होती हैं। इन थेर थेरियों के मनोभाव उनकी अपनी–अपनी अनुभूतियों के अनुरूप वास्तविक सत्य को चित्रित करती है। सभी थेर एवं थेरियां बिम्बों के द्वारा केवल वर्ण्य विषय का मानसिक प्रत्यक्ष ही नहीं करते बल्कि उसे औलारिक अनुभूति के संदर्भ में लाकर मनोरम बना देते हैं। विद्यानिवास मिश्र ने कहा है– स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, अल्प से विपुल विपुल से विपुलतर यही हमारी चिंतन धारा की भी दिशा है। इसमें बार–बार आवर्तन प्रत्यावर्तन भी है। स्थूल से परम सूक्ष्म की ओर जाकर फिर नये प्रकार की प्राणशक्ति से संजीवित होकर स्थूल की ओर यात्रा होती है।6

जीवन में सुख भी दुख कारक है। दुख तो दुख है ही। इसलिए बुद्ध ने संसार चक्र को ही दुखपूर्ण कहा है इन सारे दुखों से उपर की अवस्था निर्वाण की अवस्था है। जहाँ समस्त दुखों का शमन हो जाता है। थेर–थेरियों के जीवन में सुख की क्षणिकता दुख देती है, कभी सुख की आसक्ति दुख बन जाती है। इनकी अनुभूतियों में गहरे आध्यात्मिक अनुभवों का वर्णन है। सारिपुत्तत्थेर का अनुभव है– जिसने सुख को दुख के रूप में दुख को तीर के रूप में देखा है और उन दोनों के बीच कहीं स्थायी अस्तित्व को नहीं पाया है, उसे संसार में आसक्ति नहीं होती।

यो सुखं दुक्खतो अद्द, दुक्खमद्दक्खि सल्लतो।
उभ्यन्तरेन नाहोसि, केन लोकस्मिं किं सिया।।
(थेरगाथा– 986);
इसी प्रकार गोदत्तत्थरे का अनुभव है– जो सुख को पाकर खुश होते हैं दुख को पाकर निराश होते हैं। सत्य को न जानने वाले नासमझ दोनों से दुखी होते हैं–
उन्नता सुखधम्मेन, दुक्ख धम्मेता चोनता।
द्वयेन वाला हञ्ञन्ति, यथाभूतं अदस्सिनो।।
(थेरगाथा– 662)

बिम्ब–विधान के समय कल्पना बहुत कार्यरत रहती है। पहले कल्पना स्मृति के क्रोड़ में सोये हुए बिम्बों को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियों के स्पर्श से जगाती है और तब उन बिम्बों को अभीसिप्त शिल्प के ढांचे में ढालती है। अतः बिम्ब एक प्रकार का स्मरण–निर्भर मानसिक पुनर्निमार्ण है। इस बिम्ब का निर्माण पूर्णिका थेरी की कल्पनाओं में प्रत्यक्ष उपलब्ध अनुभूतियों से दृष्टव्य है– गंगा में स्नान करते हुए एक ब्राह्मण को देखकर पूर्णिका कहती है किसके भय से इस सर्दी में गहरी नदी में आप उतरे हैं, कांपते हुए शरीर से निरन्तर सर्दी की पीड़ा सहते हैं जबकि मैं पनिहारिन थी, सदा पानी भरना ही मेरा काम था स्वामियों के दण्ड के भय से उनके क्रोध भरे कुवाच्यों से पीड़ित होकर मुझे कड़ी सर्दी में भी पानी में उतरना पड़ता था। यहाँ भीता और भीतो के द्वारा बिम्ब उपस्थित किया गया है–

उदहारी अहं सीते, सदा उदकमोतरि।
अय्यानं दण्डभयभीता, वाचादोसभट्टिता।।
कस्स वामणं त्वं भीतो, सदा उदकमोतरि।
वेधमानेहि गत्तेहि, सीतं वेदयसे भुसं।।
थरीगाथा– (236, 237)

ब्राह्मण और पूर्णिका के तर्क वितर्क के बाद एक पुनर्निर्माण होता है जो सत्य पर आधारित है यह पुननिर्माण ब्राह्मण की उक्ति से स्पष्ट है–

ब्रह्मबन्धु परे आसिं, अज्जम्हि सच्चबामणो।
तेविज्जो वेदसम्पन्नो, सोत्तियो चम्हिन्हातको।।
(थेरीगाथा– 251)

भय, स्नान और पुनर्निमाण का बिम्ब गया काश्यप के अभिलाषाओं में भी दृष्टव्य है– गया काश्यप दिन में तीन बार– सुबह, दोपहर और शाम फल्गू नदी में स्नान करता था उनके मन की भावना थी कि पिछले जन्म में मेरे द्वारा जो पाप किया गया है, उन्हें यहाँ बहा देता हूँ। इन मिथ्या धारणाओं को बुद्ध, द्वारा समझाने पर आष्टांगिक मार्ग रूपी प्रवाह में उतर कर पाप को धम्मरूपी नदी में धो दिया। गाथा का शब्द बिम्ब भी दृष्टव्य है–

निन्हातसब्बपापोम्हि, निम्मलो पयतो सुचि।
सुद्धो सुद्धस्स दायादो, पुत्तो बुद्धस्स ओरसो।।
(थेरगाथा– 348)

बिम्ब–विधान के समय कलाकार के समक्ष केवल वस्तु बोध ही नहीं रहता, बल्कि विभिन्न प्रकार के आसंगों, संवेदनों अथवा प्रभावों का सातत्य भी रहता है। इस तरह कला जगत के बिम्ब इन्द्रिय सन्निकर्ष में आयी हुई वस्तु मात्र को नहीं वस्तु के विशेष और विविध भाव सम्बन्धों को भी मूर्त्तमान करते हैं। मुक्ता थेरी दरिद्र ब्राह्मण कन्या थी उसका दरिद्र कूबड़े पति से विवाह हुआ। घर का ओखली और मुसल भी कूबड़ा था जब पति की आज्ञा से भिक्षुणी बनी अर्हत्व प्राप्त की, तो अपने उद्‌गार में कहती है– तीन टेढ़ी चीजों से मैं अच्छी तरह विमुक्त हो गयी हूँ। ओखली से, मूसळ से और अपने कूबडे पति से। अब मैं जरा और मरण से भी मुक्त हो गयी हूँ–

सुमुत्ता साधुमुत्ताम्हि, तीहि खुज्जोहि मुत्तिया।
उदुक्खलेन मुसलेन, पतिना खुज्जकेन च।
मुत्ताम्हि जातिमरणा, भवनेत्ति समूहता'ति।।थेरीगाथा–11;
यहाँ तीन टेढ़ी चीजों के उदाहरण में निहित संसार चक्र में पड़े रहने की संवेदनाओं और प्रभावों को सातत्य है।

काव्य कला में चित्रात्मक भाषा की आवश्यकता पड़ती है, जिसमें शब्द बोलते हैं। इसलिए पंत ने कहा है– ''कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हैं। सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सके; जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो।''7 सौन्दर्य शास्त्र में इसे शब्द बिम्ब कहा गया है। थेर एवं थेरीगाथा में शब्द–बिम्ब के उदाहरण भी भरपूर प्राप्त होते हैं। एक शब्द का विपरीतार्थक प्रयोग द्वारा उनके अर्थ की सार्थकता का बिम्ब प्रस्तुत किया जाता है। यथा–

यं त्वं 'कामरतिं' ब्रूसि, अरति दानि सा मम।
(थेरीगाथा– 234)
यहाँ कामरति को अरति के द्वारा आनन्द और रति द्वारा घृणा का बिम्ब उपस्थित किया गया है।

शब्द–बिम्ब अभिव्यक्ति सांक्षेप्य और कला चैतन्य से युक्त मूर्त्त विधान का सर्वोत्तम रूप होता है, इसमें एक शब्द को अर्थगर्भ प्रेषणीयता से अतिभ्राराक्रांत कर किसी संदर्भ में इस प्रकार योजित किया जाता है कि उसी शब्द के अर्थातिशय से सम्पूर्ण संदर्भ चमत्कृत हो जाता है अम्बपालि थेरीगाथा में जराय के द्वारा अम्बवाली की सम्पूर्ण आकर्षण विकर्षण में बदलता हुआ दिखाई पड़ता है और अनन्तोगत्वा ''सच्चवादिवचनं अञ्ञथा'' का सात्विक बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण गाथा में जराय विरलं, जराय खलितं, जराय वलिभिप्पलम्बिता, जराय भग्गा, आदि शब्दों के यर्थाथ के भाव की सत्यता पर बुद्ध के वचन का ''सच्चवादिवचनं अञ्ञथा'' के द्वारा बिम्ब की सृष्टि हुई है। जराय का सहजात भाव संसार की वस्तुओं की अनित्यता का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

कप्प थेरगाथा में शरीर के मलिन चित्र के द्वारा संसार की निसारता का बिम्ब दृष्टव्य है–
नानाकुलमलसम्पुण्णो, महाउक्कार सम्भवो।
चन्दनिकं व परिपक्कं, महागण्डो महावणो।।
पुब्बरुहिर सम्पुणो, गूथकूपेन गाहितो।
आपोपग्धरणो कायो, सदा सन्दति पूतिकं।।
सट्ठिकण्डरसम्बन्धो मंसलेपनलेपितो।
चम्मकञ्चुकसन्नद्धो, पूतिकायो निरत्थको।।
अट्ठिसंङ्घातघटितो, न्हारुसुत्तनिबन्धनो
नेकेसं संगतीभावा, कप्पे ति इरियापथं।।
(थेरगाथा– 567–570)

शब्द–बिम्ब के विधान में एताट्टश अर्थातिशय युक्त एक शब्द का एकहरा, दूहरा या तीहरा प्रयोग

किया जाता है ताकि आवृति से भी उसे वैशिष्ट्य मिल सके। नीचे की पंक्तियों में सुमुत्तिक शब्द के दूहरे तीहरे प्रयोग के द्वारा शब्द वैशिष्ट्य का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। यथा–

सुमुत्तिको सुमुत्तिको साहु, सुमुत्तिकोम्हि तीहि खुज्जकेहि।
झाय सुमंगल झाय सुमंगल अप्पमत्तो विहर सुमंगलाति।। (थेरीगाथा –43)
इसी प्रकार–
सुमुत्तिका सुमुत्तिका साधुसुसमुत्तिकाम्हि मुसलस्स। (थेरीगाथा– 23)

यहाँ सुमुत्तिक शब्द के द्वारा अर्थ को अति भाराक्रान्त कर उसकी दूहरी और तिहरी आवृत्ति से थेर एवं थेरी की सुमुक्तता का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ बिम्ब शब्दाश्रित है। इस शब्दाश्रित बिम्ब विधान से भाव और ध्वनि दो रूप में बिम्ब प्रस्तुत किये गये हैं। ध्वनि–बिम्ब भाव–बिम्ब की अपेक्षा अधिक कलात्मक हुआ करता है। ध्वनि– बिम्ब भाव–बिम्ब का परवर्ती है क्योंकि काव्योपयुक्त प्रत्येक शब्द साधारण प्रयोग में भी कोई न कोई भाव–बिम्ब रखता है। इस तरह शब्द बिम्ब को ध्वनि–बिम्ब और भाव–बिम्ब दो रुप में व्यक्त किये जा सकते हैं। नीचे की गाथाओं में ध्वनि और भाव–बिम्ब के उदाहरण दृष्ट्व्य है–

अविज्जाय निवुत्तो कायो
चतुगन्थेन गन्थितो।।
ओघसंसीदनो कायो,
अनुसयजालमोत्थतो''।। थेरगाथा– 572

यहाँ काय की आवृति से ध्वनि और उसकी विशेषताओं को अंकित कर भाव–बिम्ब को दर्शाया गया है।

सौन्दर्य शास्त्र में कलात्मक सौष्ठव की दृष्टि से वर्ण–बिम्ब का उल्लेखनीय महत्व है। वर्ण बिम्ब विधान में विशिष्ट प्रकार के वर्णो की योजना और संचयन से अर्थवान तथा व्यंजक बिम्बों का निर्माण होता है, वहाँ वर्ण बिम्ब ध्वनि की आवृति के रुप में देखा जाता है। सम्बुल कंच्चान थेरगाथा में गड़–गड़ ध्वनि को वर्ण बिम्ब के रूप में प्रस्तुत किया गया है– देवो च वस्सति देवो च गळगकायति में 'शळगळायति' शब्द में वर्ण–बिम्ब का निर्माण हुआ है।

मूर्त्तविधायिनी कल्पना से सृष्ट बिम्ब अपने ऐन्द्रिय निवदेन के द्वारा ही ग्राह्य होते हैं। ऐन्द्रिय बोध के आधार पर चाक्षुष, श्रावण, स्पर्शिक, घ्राणिक, रासनिक और आंगिक रूप बिम्बों में विभाजित किया गया है–

ऐन्द्रिय बिम्बों का चित्रण थेर एवं थेरीगाथा में प्राप्त होता है। मालुक्यपुत्त की इन पंक्तियों में पञ्चेन्द्रि और उसके विषयों के साथ होने वाले दुष्परिणाम का चित्र दृष्टव्य है–

रुपं दिस्वा सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।
सद्दं सुत्वा सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।
गन्धं घत्वा सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।
रसं भोत्वा सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।
फस फुस्स सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।
धम्म ञ्त्वा सतिमुट्ठा ..... तस्स वड्ढन्ति वेदना।

इसके परिणाम के इस प्रकार चित्रित किया गया है–
न सो रज्जति रूपेसु ..... सन्तिके निब्बान वुच्चति।
न सो रज्जति सद्देसु ..... सन्तिके निब्बान वुच्चति।
न सो रज्जति गन्धेसु ..... सन्तिके निब्बान तुच्चति।
न सो रज्जति रसेसु ..... सन्तिके निब्बान तुच्चति।
न सो रज्जति फस्सेसु ..... सन्तिके निब्बान वुच्चति।
न सो रज्जति धम्मेसु ..... सन्तिके निब्बान वुच्चति।
थेरगाथा– 794–817

इन पंक्तियों में ऐन्द्रिय बिम्ब का अद्भूत उदाहरण है।

ऐन्द्रिय बिम्बों में चाक्षुष बिम्ब कला जगत में पर्याप्त महत्व रखते हैं। चाक्षुष बोध अन्य ऐन्द्रिय बोधों की अपेक्षा अधिक आत्मीय होता है। आचार्य रामचन्द्र सुक्ल ने कहा है– कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रों के विषयों का अधिक आनयन होता है।''10

लैंगर का कहना है– The whole image is almost inseparably wedded to the sense of sight[11]

अब कुमार विमल द्वारा विभाजित चाक्षुष बिम्बों के विभिन्न भेदों एवं उपभेदों के अन्तर्गत थेर एवं

थेरीगाथा में आगत बिम्बों का अध्ययन समीचीन है जो इस प्रकार है– चाक्षुष बिम्ब– 1. चतुष्क चाक्षुष बिम्ब 2. अध्याहृत चाक्षुष बिम्ब।

1. चतुष्क चाक्षुष बिम्ब

चतुष्क चाक्षुष बिम्ब विधान के अर्न्तगत वस्तु विशेष का चित्र अंकित करते समय उसकी रूपाकृति और आसन्न वातावरण का स्पष्ट ब्यौरा दिया जाता है, इस शैली के दो उपभेद किये जाते है–

क. संकेतग्राही चतुष्क चाक्षुष बिम्ब
ख. उपकरण मूलक चतुष्क चाक्षुष बिम्ब

संकेतग्राही चतुष्क बिम्ब विधान में संपृक्त दृश्य को अलग–अलग अंग, छटाओं को न देकर उसकी समन्वित सम्पूर्णता को प्रतिबिम्बित किया जाता है। रट्ठपालत्थेर की इन पंक्तियों में चतुष्क चाक्षुष बिम्ब देखा जा सकता है–

पस्स चित्रकतं बिम्बं अरुकायं समुस्सितं।
आतुरं बहुसंकप्पं, यस्स नत्थि धुवं ठिति।।
(थेरगाथा– 769)

यहाँ शरीर का चित्र अनेक संकल्पों से युक्त और उसकी अस्थिर स्थिति के द्वारा चित्रित किया गया है। यहाँ अनेक संकल्प और अस्थिर स्थिति का बिम्ब शरीर का अलग अलग बारीक ब्यौरे न देकर पाठक को अपनी सम्पूर्णता से प्रभावित करता है। तदन्तर उपकरण मूलक चतुष्क बिम्ब में चित्र विशेष की सम्पूर्णता तद्विषयक यथोप्सित उपकरणों की दृष्टि से सिद्ध होती है ऐसे बिम्ब विधान में अनुभूति की मात्रा कम और गणना प्रधान वृत्ति अधिक होती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में शरीर का चित्र विविध उपकरणों की गणना द्वारा किया गया है–

पस्स चित्तकतं रूपं, मणिना कुण्डलेन च
आट्ठिं तच्चं ओनद्धं, सहवत्थेहि सोभति। थेरगाथा– 770

यहाँ मणि कुण्डल से सजा, चमड़े से ढकी हड्डी, कपड़ों से शोभा पाता अलग–अलग गणना द्वारा शरीर वृत्ति का विधान किया गया है।

2. अध्याहृत चाक्षुष बिम्ब

आध्याहृत चाक्षुष बिम्ब चतुष्क चाक्षुष बिम्ब के विपरीत बिम्ब विधान है। इसमें वस्तु विशेष का विस्तृत अथवा बारीक व्यौरा न देकर चुस्तों, सामसिकता और उपचार बक्रता से काम लिया जाता है। बल्लिय थेरगाथा में बानर की उपमा द्वारा चित्त का सामासिक बिम्ब प्रस्तुत किया गया है, यथा–

मक्कटो पञ्द्वारायं कुटिकायं पसक्किय।
द्वारेन अनुपरियेति, घट्टयन्तो मुहुं मुहुं ।।
(थेरगाथा– 125)

यहाँ बानर पंचद्वार वाली कुटियों में प्रवेश पाकर बार–बार शोर मचाता है और एक द्वार से निकाल कर दूसरे द्वार में जाता है। बानर का अप्रस्तुत विधान कुछ विशिष्ट साधर्म्य और सादृश्य के आधार पर चित्त का बिम्ब प्रस्तुत किया गया है। बानर और चित्त के बीच रूप साम्य का वर्णन धम्मपद की इन पंक्तियों में भी दृष्टव्य है–

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्ख दुन्निवारयं। (ध॰ प॰ 3/1)

वर्णबोध

वर्ण रंग का द्योतक है। चाक्षुष बिम्ब की बड़ी विशेषता वर्ण बोध है। वर्ण बोध चाक्षुष बिम्बों को कलापूर्ण चित्रात्मक सौन्दर्य प्रदान करता हैं अम्बवाली थेरी की सभी गाथाओं में वर्ण बोध की अभिव्यक्ति है। यहाँ एक उदाहरण दृष्टव्य है–

काळका भमरवण्णसदिसा
बेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहुं।। (थेरीगाथा– 252)

यहाँ भौरे के द्वारा केश का वर्ण बोध कराया गया है। उसभत्थेर गाथा में आम्रपत्र के समान रंगवाला चीवर का वर्णन चाक्षुष वर्णबिम्ब उपस्थित करता है–

अम्बपल्लवसङ्कासं अंसे कत्वान चीवरं। (थेरगाथा– 197)
हरे वर्ण का वर्णन करते हुए सन्धित थेर गाथा में कहा गया है–
अस्सत्थे हरितोभासे संविरुळ्हम्हि पादपे। (थेरगाथा– 217)
इसी प्रकार उजले बगुले और काले बादल का वर्ण बिम्ब दृष्टव्य है–

थेर एवं थेरीगाथा में बिम्ब-विधान

यदा बला सुचिपण्डरच्छदा
काळस्स मेघस्स भयेन तज्जता। थेरगाथा– 307

थेर एवं थेरीगाथा में चाक्षुष बिम्बों की प्रधानता है, जबकि उनका आग्रह सूक्ष्म और अशरीरी भावनाओं की ओर है। इसका कारण यह है कि सभी थेर–थेरियां अर्हत हैं। अर्हत्व को शब्दों में व्यक्त करना असम्भव है। पर गाथाओं के द्वारा सूक्ष्म अनुभूतियों को भी चित्रोपम, मूर्त्त और इन्द्रियगम्य बनाकर उपस्थित किया गया है।

उदात्तबिम्ब

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों से काव्य की उदात्त बिम्बों को प्रस्तुत किया जाता है। थेर एवं थेरीगाथा में उदात्त बिम्ब का प्रयोग हुआ है। भूतत्थेरगाथा में प्रकृति के उदात्त बिम्बों को दर्शाया गया है–

धारा कुला विहगपथे समन्ततो।
भिक्खू च पब्भारगतोव झायति।
ततो रति परमतरं विन्दति। (थेरगाथा– 522–524)

यहाँ बादल रूप नगाड़ों की आवाज, निंर्जन वन में बरसात की भयंकरता, हाथियों के गर्जन के बीच ध्यानमग्न भिक्षु द्वारा परमानन्द का अनुभव करना उदात्त बिम्ब का प्रस्फुटन है। इसी प्रकार कालुदायी थेरगाथा में पर्ण रहित वृक्षों को लाल–लाल फूलों से सुसज्जित होना ऐसा लग रहा है जैसे फल की आशा में वृक्ष पत्तों को त्याग दिया हो और लाल अंगार सा तप्त हो। फूल को अंगार की उपमा द्वारा उदात्त बिम्ब प्रस्तुत किया गया है–

अंगारिनो दानि दुमा भदन्ते; फलेसिनो छदनं विप्पहाय।
ते अच्चिमन्तोव पभासयन्ति, समयो महावीर भागी रसानं।।
दुमानि फुल्लानि मनोरमानि, समन्ततो सब्बदिसा पवन्ति।
पत्तं पहाय फलमाससाना, कालो इतो पक्कमनायवीर।।
(थेरगाथा– 527–528)

इसी प्रकार सम्पक थेर को अजकरणी नदी बहुत अच्छी लगती है क्योंकि बगुले बादलों के धुएं से घबड़ाकर सुरक्षित निवास स्थान यानी गुफा में भागने लगते हैं। ठीक उसी प्रकार विषय भोगों के परिणाम से घबराकर संपक थेर को अजकरणी नदी अच्छी लगती है–

काळकस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलय मालयेसिनी,
तदा नदी अजकरणी रमेति मं।।
यदा बलाका सुविसुद्धपण्डरा,
काळस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसति लेणमलेणदस्सिनी,
तदा नदी अजकरणी रमेति मं। (थेरगाथा– 307–308)

यहाँ बादलों को धुएं के रूप में वर्णन उदात्त बिम्ब है ठीक उसी प्रकार विषय भोगों के परिणाम में उदात्त बिम्ब विधान है।

इस तरह थेर एवं थेरीगाथों में कलात्मक अभिव्यक्ति पर निर्भर बिम्ब यथा– शब्द बिम्ब, वर्ण बिम्ब, कल्पनाश्रेयी बिम्ब और परमेल प्रवेशक बिम्ब उपलब्ध है एंन्द्रिय बोधों पर निर्भर बिम्ब–चाक्षुष श्रावण, घ्रणिक, गति बोधक इत्यादि प्राप्त होते है उदात्त बिम्ब भी बहुत सारी गाथाओं में हैं।

संदर्भ–ग्रंथ सूचीः

(1) दास गुप्ता, एस. एम., फण्डामेण्टल ऑव इण्डियन आर्ट, बम्बई, प्रथम संस्करण पृष्ट–93
(2) विमसेत, डब्ल्यू. के. और ब्रुक्स क्लीन्थ– लिटरैरी क्रिटिसिज्म– ए शैर्ट हिस्ट्री, 1957;
(3) स्कॉट जेम्स आर. ए. द मेकिंग ऑव लिटरेचर, 1928 पृष्ठ– 325 डॉ. विद्या निवास मिश्र द्वारा सम्पादित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र पृष्ठ– 25
(4) मिश्र, विद्यानिवास,साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1997 पृष्ठ–27;
(5) कुमार विमल,छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन; राजकमल प्रकाशन, तृतीय संस्करण पृष्ठ– 169;
(6) मिश्र (डॉ.) विद्याानिवास, साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र चण्डीगढ़; 1997
(7) पन्त, सुमित्रानन्दन, पल्लव, इण्डियन प्रेस, प्रयाग 1931, भूमिका भाग– पृष्ठ–26
(8) शुक्ल,आचार्य रामचन्द्र, चिन्तामणि, दूसरा भाग, सरस्वती मंदिर जतनवर, काशी, सम्बत 200 पृष्ठ–1.

सिंहल में ऐतिहासिक एवं धार्मिक परिप्रेक्ष्य में पालि वंस साहित्य का महत्व

डा. संघमित्र बौद्ध, बौद्ध अधययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्यिक स्रोत इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण आधार है जिसके द्वारा इतिहास का निर्माण होता है। प्राचीन सिंहल का इतिहास विभिन्न प्रकार के साहित्यिक स्रोतों में सन्निहित है। सिंहल का धार्मिक वाङ्मय विशाल एवं विविध है। लंका की ऐतिहासिक परम्परा भारत से कहीं अधिक अक्षुण्ण है। उसके प्राचीन काल का इतिहास प्रधानतः 'दीपवंस' एवं 'महावंस' जैसे इतिहास–ग्रन्थों और आचार्य बुद्धघोष–कृत विनय–पिटक की अट्ठकथा 'समन्तपासादिका' में वर्णित है। इन स्रोतों में अतिमहत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ 'दीपवंस' एवं 'महावंस' है। दीपवंस, महावंस से प्राचीन है। पाँचवी शताब्दी ई॰ वी॰ के बाद लंका का इतिहास महावंस के परिवर्द्धित संस्करण चूलवंस में वर्णित है।1 लंका में धर्म के इतिहास पर लिखा गया साहित्य 'वंस साहित्य' कहलाता है।

'वंस' साहित्य पालि साहित्य की अमूल्य निधि है, क्योंकि इस विपुल साहित्य में बौद्ध धर्म के सम्पूर्ण इतिहास का वर्णन है। यद्यपि इसमें मुख्य रूप से राजाओं एवं विद्वान आचार्यों की वंश परम्परा एवं उनके कृतित्व का वर्णन मिलता है, तथापि लंकाद्वीप, म्यांमार एवं थाईलैण्ड आदि देशों के इतिहास तथा उनके धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों की भी प्रामाणिकता इस साहित्य में उपलब्ध होती है।

वंस शब्द का शब्दिक अर्थ बाँस है। जिस प्रकार से क्रमशः अनेक बाँसों की झाड़ी बढ़ती जाती है, उसी प्रकार एक व्यक्ति से कुल रूपी बाँस की झाड़ी तैयार होती है। अतः वंस का अर्थ इतिहास से है। श्रीलंका के भिक्षु वंस साहित्य लेखन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इस साहित्य में न केवल श्रीलंका के प्राचीन राजनैतिक इतिहास को लिखा गया है, बल्कि बौद्ध भिक्षु संघ का इतिहास भी प्रस्तुत किया है।

दीपवंस

दीपवंस इस साहित्य की प्रथम रचना। दीपवंस दो शब्दों 'दीप' तथा 'वंस' से मिलकर बना है। यहाँ दीप का अर्थ लंका द्वीप से है तथा वंस का अर्थ इतिहास है। चूँकि इस ग्रन्थ में लंका द्वीप का इतिहास है, इसलिए इसका नाम 'दीपवंस' रखा गया। यह लंकाद्वीप की धर्मेतिहासिक परमपरा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है। इसके लेखक का नाम विदित नहीं है, परम्परा से प्राप्त वृत्तों का यह एक संकलन है। 'दीपवंस' के रचनाकार ने स्वयं आरम्भ में कहा है, ''वंसं पक्खामि परम्परागत''2 मैं परम्परा से प्राप्त इतिहास का वर्णन करूंगा। दीपवंस बाईस परिच्छेदों में विभकत है। इसमें आदिकाल से लेकर राजा महासेन के शासनकाल (325ईकृ352ई.) तक का इतिहास वर्णित है। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में दीपवंस को उद्धर्त किया है। इससे ज्ञात होता है राजा महासेन के शासनकाल तथा बुद्धघोष के समय को ध्यान में रखकर दीपवंस का काल 352ई. ओर 450ई. के बीच का निर्धारित किया गया है।3

दीपवंस की विषय–वस्तु में सर्वप्रथम शाक्यमुनि बुद्ध का तीन बार लंका आगमन का वर्णन, प्राचीन बुद्ध वंशावली, प्रथम दो बौद्ध संगीतियाँ, लंकाद्वीप के प्रथम अभिषिक्त राजा का वर्णन, अशोक पुत्र एवं पुत्री संघमित्रा का लंकागमन, महाथेरी संघमित्रा द्वारा बोधिवृक्ष की स्थापना, दक्षिण भारत के तमिलों (दमिलों) द्वारा अत्याचार तथा दुट्ठगामणि द्वारा परास्त, राजा वट्ठगामणि द्वारा पालि त्रिपिअक का लेखबद्ध तथा लंकाधिपति महासेन का शासन–काल वर्णित है। दीपवंस महासेन (325ई.–352ई.) के शासन–काल तक आकर समाप्त हो जाता है।4

दीपवंस की प्राचीन ऐतिहासिक परमपरा के कारण सिंहल में इसे आदर ओर विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। सिंहल के राजा धातुसेन ने एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर इस ग्रन्थ का पाठ कराकर

राष्ट्रीय गौरव बढ़ाया।5

महावंस

महावंस का अर्थ है महान लोगों का इतिहास। यह भी दीपवंस के समान ही लंका एक सुव्यवस्थित इतिहस–ग्रन्थ है। महावंस टीका के अनुसार इसके रचियता का नाम महानाम था। विषय–सामग्री व वर्णन क्रम एक समान होते हुए भी महावंस दीपवंस से अधिक विस्तृत एवं इसकी भाषा साहित्यिक दृष्टि से सरल है। महावंस दीपवंस के बाद की रचना है, किन्तु दोनों का आधार सिंहल की प्राचीन अट्ठकथाएँ हैं।6 महावंस अपने मौलिक रूप में 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद 'महावंसो निट्ठितो', (महावंस समाप्त) इस प्रकार के शब्द लिखित है।7 किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा से आगे 'चूलवंस' नामक ग्रन्थ में परिवर्द्धित किया गया।8

महावंस में 11वें से 37वें परिच्छेद का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया हैं 11वें परिच्छेद में देवानां प्रियतिष्याभिषेक वर्णन, 12वें में अशोक द्वारा विभिन्न–देश–धर्मप्रचारक गये, 13वें में महेन्द्र का लंकागमन, 14 से 20 परिच्छेद में क्रमशः नगर प्रवेश, महाविहार परिग्रहण, चैत्यपर्वत–विहार प्रतिग्रहण, धातु–आगमन, महाबोधिग्रहण, बोधि आगमन तथा स्थविर परिनिर्वाण का ववर्णन किया गया है। 22 से 32वें परिच्छेद में दुट्ठगामणी का वर्णन दीपवेस की अपेक्षा महावंस में विस्तृत रूप से किया गया है। इस प्रकार दीपवंस और महावंस दोनों एक ही स्थान से प्रारम्भ कर महासेन के शासन काल तक आकर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते हैं।9

चूलवंस

महावंस के 37वें परिच्छेद की 59वीं गाथा के बाद का यह परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। सिंहली भाषा में इसे 'सेलुवंसय' कहते है।10 चूलवंस महासेन के शासन–काल के अन्तिम वर्ष से लेकर उसके आधुनिक काल (1935 ई.) तक लंका के इतिहास का वर्णन करता है।11 यह रचना पाँच भिन्न–भिन्न कालों में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है–

1. सिंहल–प्रवासी स्थविर धम्मकित्ति नामक भिक्षु, जो प्रसिद्ध सिंहली राजा पराक्रमबाहु द्वितीय (1236–1268 ई.) के समकालिक थे। 13वीं शताबदी के मध्य भाग में सर्वप्रथम महानाम द्वारा 37वें परिच्छेद की 50वीं गाथा पर छोड़े हुए 'महावंस' का परिवर्द्धन किया। राजा महासेन और उसके पुत्र सिरिमेघवण्ण के इन्होंने अपने विषय का आरम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु द्वितीय के शासन–काल तक छोड़ा। पराक्रमबाहु ने दमिळों (तमिळों) को हराया था और बौद्ध धर्म की स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण के द्वारा बड़ी सेवा की थी।

2. 'चूलवंस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने 80वें परिच्छेद से लेकर 90वें परिच्छेद नामक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होंने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर (जो सन् 1325 में राजगद्दी पर बैठा) छोड़ा। इस भाग में इन्होंने 23 राजाओं का वर्णन किया।12

3. 'चूलवंस' का तुतीय परिवर्द्धन तिब्बोतुवाबे सुमंगल स्थविर ने किया। पराक्रमबाहु चतुर्थ के काल से लेकर इन्होंने अपने विषय को कीर्ति श्री राजसिंह (1747–1780 ई.) तक छोड़ा। इस बीच उन्होंने 24 राजाओं का वर्णन किया। इसी अंश में ईसाई धर्म–प्रचारकों के लंका में आने की सूचना भी मिलती है।13

4. 'चूलवंस' का चौथा परिवर्द्धन हिक्कडुवे सिरि सुमंगल तथा देवरक्षित ने किया। लंकाधिराज कित्ति सिरि राजसीह और सिरिविक्कम राज सीह का वर्णन है, और लंका के अंग्रजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना हैं यह अंश 1785 ओर 1815ई. के बीच के लंका के इतिहास का वर्णन करता है।14

5. सन् 1815 से 1935 ई. तक का लंका का इतिहास हिली स्थविर युगिरल पञ्ञानन्द नायक थेर द्वारा लिखा गया। यदि चाहें तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते हैं। सन् 1936 ई0 में यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ। सिंहल की आधुनिक पालि–रचना की प्रगति पर

इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।15

महाबोधिवंस

महाबोधिवंस या बोधिवंस अनुराधपुर में अरापित बोधिवृक्ष का इतिहास हैं यह एक गद्य–पद्य मिश्रित रचना हे जो सिंहल भाषा से पालि में अनुवादित है। सभी गाथाएँ प्रायः महावंस से उद्धृत की गई हैं। महाबोधिवंस के रचियता सिंहली भिक्षु उपतिस्स थे। इसका रचना काल 10वीं–11वीं शताब्दी के बीच का माना गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ महाबोधिवृक्ष की स्तुति से किया गया है तत्पश्चात् ग्रन्थ की कथा पाँच प्रश्नों के समाधान के रूप में 12 अध्यायों में प्रस्तुत की गई है।16 पारम्भ के पाँच प्रश्न इस प्रकार हैं–

1. किस कारण से महाबोधि कही जाती है?
2. उसका सम्बन्ध किससे है?
3. उससे किस चीज की सिद्धि होती है?
4. किसके द्वारा इसकी स्तुति की गई है?
5. इसे कहाँ प्रतिष्ठित किया गया?

इन प्रश्नों के उत्तर देते समय महावंस के कथानक को दोहराया गया है। लेखक ने इन प्रश्नों का उत्तर निम्न प्रकार दिया है– महाबोधि का अर्थ चार मार्गों का ज्ञान है। भगवान् बुद्ध की बोधि को महाबोधि कहते हैं।17

अगले प्रश्न में पूछा गया है कि बोधिवृक्ष से क्या लाभ हुआ ? इससे दो महत्वपूर्ण कार्य हुए। प्रथम इस महाबोधि की प्रतिष्ठापना श्रावस्ती के जेनवतद्वार पर एवं दूसरी इसकी दक्षिणी महाशाखा का लंकाद्वीप में रोपण होनां इसके बाद बुद्धचर्या का वर्णन करते हुए लट्ठिवन, वेणुवन, कपिलवस्तुगमन, राहुल–प्रवज्या, यशोधरा प्रसंग, गण्डमरूक्खमूल प्रतिहार्य, अनाथपिण्डक का जेतवनदान, आनन्द द्वारा जेतवन में आनन्दबोधि का रोपण तथा बुद्ध द्वारा कलिङ्गबोधि जातक का दृष्टान्त विस्तार से वर्णित है। इस प्रकार आनन्दबोधि नामक दूसरा अध्याय समाप्त हो जाता है।18

इसके तृतीय अध्याय में महाबोधि की दक्षिण महाशाखा का लंकाद्वीप में स्थापना है। इस अध्याय में लेखक ने पुनः पाँच प्रश्न पूछे है ?– दक्षिण महाशाखा को किसने ग्रहण किया? किसने लिया? किसने प्रतिष्ठापित किया? किसने पूजा? किसने पालन किया? इसका संक्षिप्त उत्तर इसप्रकार वर्णित है– नरेश धम्माशोक ने ग्रहण किया। महाथेरी संघमित्रा ने लिया। राजा देवानांप्रियतिष्य ने प्रतिष्ठापित किया। बोधिगुप्त ने पालन–पोषण किया। तत्पश्चात् अशोक कथा प्रारम्भ होती है। इसके मध्य में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय संगीतिकथा का वर्णन किया गया। अशोक के लंकाद्वीप के साथ सांस्कृतिक समबन्ध मोगगलिपुत्ततिस्स द्वारा बौद्धधर्म प्रचारार्थ भिक्षुओं को विभिन्न देशों में भेजना वर्णित है। महामहेन्द्र के लंकाद्वीप आगमन के साथ ही लंकावतरण की कथा समाप्त हो जाती है।19

विशेष रूप से 11वें अध्याय में महाबोधिवंस महावंस से भिन्न हो जाता है। महाबोधि की दक्षिणी शाखा लेकर महाथेरी संघमित्रा का लंकाद्वीपगमन के साथ 18 कुलों का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। इनके वर्णन से ऐसा प्रतीत होता हे कि सम्राट अशोक ने भारतीय संस्कृति को ही लंकाद्वीप भेज दिया हो।20

थूपवंस

'थूपवंस' सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, 'थूपवंस' (स्तूपवंस) भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित 'स्तूपों' का इतिहास है। विशेषतः उसमें लंकाधिपति दुट्ठगामणि (101–77 ई. पू.) द्वारा अनुराधपूर में बनवाये गये महास्तूप का विस्तृत विवरण है। ग्रन्थ के अन्त में इसे 'थूपवरस्स वंसो' कहकर पुकारा गया है। इससे यह मालुम होता है कि इसका मुख्य उद्देश्य महास्तूपों का वर्णन करना ही है और अन्य स्तूपों या धातु–चैत्यों के विवरण इसी की पृष्ठभूमि स्वरूप दिये गये है। 'महापरिनिब्बाण–सुत्त' से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिन्हों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था। बुद्ध– परिनिर्वाण–काल से लेकर दुट्ठगामणी के समय तक निर्मित स्तूपों का क्रमबद्ध इतिहास वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है।

इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग हैं। पहले भाग में गौतम बुद्ध के पर्ववर्ती 24 बुद्धों का वर्णन किया गया है।21

दाठावंस

दाठावंस की रचना 12वीं शताबदी के अन्त या 13वीं शताबदी के आदि भाग में पुलत्थिर का निवासी सिंहल भिक्षु सारिपुत्र के शिष्य धर्मकीर्ति महास्थविर ने कि। दाठावंस दाँत धातु कथा है। इस ग्रन्थ के अन्त में स्वयं ग्रन्थाकार ने अपनी इस रचना को 'जिनदन्त धातुवंस' कहकर पुकारा है। इसका दूसरा नाम 'दन्तधातुवंस' भी है। बुद्ध के दाँतों के चारों ओर यहाँ बौद्ध धर्म के इतिहास का वर्णन है। कलिंग के राजा गुहसीव के जमाता दन्तकुमार द्वारा लंका में बुद्ध की बायीं दाढ का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण द्वारा उसका आदर–पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपूर में लंका के राजा, भिक्षु–संघ और उपासक जनता द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय–वस्तु है।22

सासनवंस

सासनवंस वंस साहित्य की एक प्रमुख रचना है। इसका प्रण्यन 19वीं शताब्दी में हुआ। यह बर्मी भिक्षु पञ्ञासामि की रचना हे जैसा इसके शीर्षक से स्पष्ट है यह बुद्ध शासन का इतिहास है। बुद्धकाल से लेकर 19वीं शतागदी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है।

सासनवंस में 10 परिच्छेद हैं। विशेषतः छठा परिच्छेद अधिक महत्वपूर्ण है। इस परिच्छेद में बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन है। इस ग्रन्थ में बुद्ध की जीवनी तथा अजातशत्रु, कालाशेक तथा धर्माशोक के समय में हुई तीन बौद्ध संगीतियों का वर्णन भी इसमें हैं। सासनवंस के अनुसार बरमा में बुद्ध शासन की प्रथम प्रतिष्ठा बुद्ध भगवान् के जीवन में हुई। यहाँ कहा गया है कि बुद्ध के अभिसम्बोधि प्राप्त करने के बाद सात सप्ताह बीतने पर आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी के दिन बुद्ध धर्म प्रतिष्ठा हुई।

सासनवंस में उपालि से लेकर मोग्गलिपुत्त तिस्स तक के विनयाचार्यों की परम्परा का भी उल्लेख है। बर्मी राजा सिरिमहासीह सुरसुधम्मराजा के समय में भिक्षु संघ में चीवर सम्बन्धी विवाद का भी वर्णन इसमें है। कुल मिलाकर बरमी भिक्षु–संघ की दृष्टि से और उस देश में रचित पालि साहित्य के प्रमाणिक विवरण की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का धार्तिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्व है।23

उपसंहार

उपरोक्त पालि वंश–साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया है, जो लंका और बरमा में लिखा गया था। इन बौद्ध देशों के साथ वंश–साहित्य ने भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध जोड़े हैं। विशेषतः सिंहल के भाषा और साहित्य के विकास पर पालि वंश–साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा है। यह इस तथ्य से जान सकते हैं कि अनेक पालि वंश–ग्रन्थों के पालि और सिंहली दोनों ही संस्करण मिलते हैं। 'सासनवंश' जैसे ग्रन्थ श्रीलंका और बरमा के पारस्परिक धार्मिक सम्बन्धों को जोड़ने वाले ही नहीं, बुद्ध शासन के माध्यम से वे बुद्धधर्म की मूल भूमि भारत को भी इन देशों को जोड़ने वाले हैं। उनके इस व्यापक सांस्कृतिक महत्व को भुलाया नहीं जा सकता।

सन्दर्भ

1. पालि साहित्य का इतिहास; पृ. 656
2. वही
3. वही
4. महावंस; पृ. 5 व पालिसाहित्य का इतिहास; पृ. 661
5. वही– पृ. 662
6. वही
7. पालिसाहित्य का इतिहास; 667
8. वही
9. वही– पृ. 673
10. वही
11. वही
12. वही– पृ.674
13. वही
14. वही
15. वही
16. वही–पृ. 85
17. वही
18. महाबोधिवंस; पृ. 35–82
19. वही–पृ. 82–117
20. वही– पृ. 113
21. पालि साहित्य का इतिहास; पृ. 683
22. वही–पृ. 690
23. वही–पृ. 702

लुम्बिनी तीर्थ स्थल के स्तूपों का संक्षिप्त वर्णन

डॉ0 कामेश्वर प्रसाद, पोस्ट डॉक्टोरल रिसर्च फैलो प्राप्त, नव नालन्दा महाविहार, नालंदा, मानित विश्वविद्यालय

साहित्य स्रोतों से विदित है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात तत्कालीन आठ गणराज्यों ने बुद्ध के अस्थि–अवशेष को आठ भागों में विभाजित कर दिया। आठों भाग पर उन गणराज्यों के स्वामी ने स्तूप का निर्माण कराया। कालान्तर में मौर्य शासक सम्राट अशोक ने इन्ही आठों स्तूपों को तोंड़कर उसमें से अस्थि–अवशेष को निकालकर पुनः चौरासी हजार (84000) भागों में बांटकर उतने ही स्तूप बनवाये। इससे पूर्व की हम लुम्बिनी के प्रमुख स्तूपों की चर्चा करें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्तूप किसे कहते हैं?

स्तूप की उत्पत्ति :–

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध देवताओं एवं उनके पूजन में विश्वास नहीं करते थे। इसी कारण साँची एवं भरहूत जैसे ई0 पूर्व के प्रारम्भिक बौद्ध कला केन्द्रों पर बुद्ध की मानव मूर्ति नहीं बनी। यद्यपि इन स्थलों पर मायादेवी के स्वप्न, बोधिवृक्ष स्तूप व चरण चिन्ह् धर्मचक्र आदि प्रतीकों के माध्यम से ही बुद्ध को अभिव्यक्ति मिली। वस्तुतः भारतीय वास्तुकला के प्राचीन उदाहरणों में स्तूप सबसे प्राचीनतम निधि मानी जाती है। स्तूप संस्कृत अथवा प्राकृत थूप से बना है जिसका अर्थ है, एकत्रित करना, ढेर लगाना आदि। साधारणतया स्तूप का संबंध बौद्ध धर्म से है इसीलिए बौद्ध साहित्य दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, मज्झिमनिकाय में थूप शब्द का अधिकतम प्रयोग किया गया है। स्तूप के लिए चैत्य शब्द का भी प्रयोग पालि साहित्य में मिलता है।

बौद्ध युग में बुद्ध की राख को भस्म पात्र में रखकर स्तूप बनाये गये। अशोक के समय में स्तूप का निर्माण कार्य अत्यधिक स्थानों पर हुआ था या पूर्व निर्मित स्तूपों का जो जर्जर अवस्था में थे उनका पुनः निर्माण कार्य कराया गया था। बुद्ध के जीवन काल में ''बुद्धं शरणं गच्छामि'' की जो सार्थकता थी वह उनके महापरिनिर्वाण के बाद नहीं रह गयी थी। तब बुद्ध के शारीरिक, पारिभोगिक और उद्देशिक अवशेषों की पूजा का विधान प्रस्तुत हुआ। बुद्ध के केश, नख, दांत तथा अस्थियाँ उनके शारीरिक अवशेष थे, उनकी पादुकायें, छड़ी और कमण्डलु आदि पारिभोगिक तथा बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि उनके उद्देशिक अवशेष थे। इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से बुद्ध की उपस्थिति को साकार बनाया गया था, जिनमें प्रमुख रूप से त्रिरत्न, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप वज्रासन और पदचिन्ह् प्रमुख हैं। त्रिरत्न बौद्ध धर्म संबोधि का, धर्मचक्र उनके प्रथम प्रवचन का और स्तूप उनके महापरिनिर्वाण का प्रतीक है।

लुम्बिनी में हमें शारीरिक उद्देशिक तथा मनौती तीन प्रकार के स्तूपों के निर्माण के बारे में जानकारी मिलती है। लुम्बिन के पुरातात्विक खुदाई में उन स्तूपों की पहचान हो चुकी है सम्राट अशोक ने स्तम्भ के अतिरिक्त एक शारीरिक स्तूप का भी निर्माण करवाया था। यह स्तूप माता मायादेवी के मन्दिर के उत्तर में स्थित है। स्तूप के उत्खनन (1970–71) के पश्चात् स्तूप के भीतर से एक वर्तुलाकार सोने की डिब्बी का हिस्सा मिला है, जिसमें कुछ अस्थियाँ तथा अनुष्ठानिक वस्तुयें रखी हुयी है। एक अन्य मौर्यकालीन विशाल वर्गाकार स्तूप के अवशेष महादेवी मन्दिर के पूर्व में स्थित है। इसके अन्दर से 16 पकी हुयी मिट्टी की पट्टियाँ मिली है जिन पर कुछ अस्पष्ट अभिलेख भी अंकित है। इसे उद्देशिक स्तूप की संज्ञा दी जा सकती है। चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग ने अशोक द्वारा निर्मित इन स्तूपों को यहाँ देखा था। इन स्तूपों के अतिरिक्त सरोवर के उत्तर–पूर्व की ओर ईटों के अनेक खण्डहर हैं, जिनमें से अधिकतर ईटों के बने छोटे स्तूपों की नींव है। इसमें 6 स्तूप पूर्व से पश्चिम की तरह एक पंक्ति में है। इनके नीचे पहले के स्तूपों की नींव भी है।

(1) मनौती स्तूप :–

इन स्तूपों के अतिरिक्त लुम्बिनी में मनौती स्तूपों की भी कमी नहीं है। ऐसे स्तूपों में किसी प्रकार की धातु या वस्तु नहीं रखी जाती थी। इनका निर्माण उपासकों द्वारा उनकी मन्नत मांगने या फिर मन्नत पूरी होने पर किया जाता था। इन स्तूपों का आकार–प्रकार भी छोटा होता था और स्तूप विशिष्ट प्रकार की बौद्ध

लुम्बिनी तीर्थ स्थल के स्तूपों का संक्षिप्त वर्णन

शैली में बनाये जाते है। महायान बौद्ध धर्म के विकास के बाद इनका अधिक निर्माण हुआ था। लुम्बिनी में माता मायादेवी के पावन मन्दिर की बहुत मान्यता थी। मातृदेवी महामाया की अनुकम्पा के लिए उपासकों में अपार श्रद्धा थी। निःसंतान उपासिकायें संतान प्राप्ति के लिए मन्नत मांगती थी। यह प्रक्रिया हजारों वर्षों तक चलती रही और मन्नत मांगने वाले अपनी मनौती पूर्ण होने पर मनौती स्तूपों का निर्माण करते रहे।

बौद्ध स्तूप–परम्परा में मनौती स्तूपों का आरम्भ कुषाण काल के बाद अस्तित्व में आया माना जाता है। इनके बाद तो मनौती–स्तूपों का निर्माण सभी बौद्ध तीर्थ स्थलों पर खूब जोर–शोर के साथ हुआ। बोधगया, नालन्दा, राजगृह, सारनाथ आदि के प्रधान स्तूपों के परिसर में ऐसे अनेक मनौती स्तूपों को आज भी देखा जा सकता है। लुम्बिनी के अधिकांश प्राचीन मनौती स्तूप अब नष्ट हो चुके हैं। केवल उनके स्थानों की पहचान शेष बची है। पी. सी. मुखर्जी ने यहाँ के पवित्र सरोवर के उत्तर–पूर्व में चार लघु स्तूपों को एक पंक्ति और उसके दक्षिण–पूर्व में पाँच लघु–स्तूपों का विवरण दिया है। वर्तमान समय में लुम्बिनी ब्राह्मणवादी षडयंत्रकारियों के कारण एक हजार से अधिक वर्ष तक उपेक्षित रहने के कारण यहाँ स्तूपों के खण्डहर मात्र शेष रह गये हैं। मरम्मत के बाद थोड़ी बहुत इनकी स्थिति अच्छी है।

(2) अन्य पुरातात्विक शिल्प कला :–

लुम्बिनी में इन स्मारकों के अतिरिक्त यहाँ और भी अनेक स्मारक खुदायी के द्वारा प्राप्त हुए जो तिलार नदी के किनारे फैले है। इन सबको पी.सी. मुखर्जी के नेतृत्व में सन् 1899ई0 में केसर शमसेर जंग बहादुर राणा के निर्देशों पर खोद निकाला गया था। इनमें से प्रमुख हैं – कुशाण कालीन मथुरा शैली का चित्तिदार बलुआ पत्थर का बुद्ध का सिर, गुप्त शैली की अनेकों टेराकोटा (पकी मिट्टी) के बने सिर पर फलकें, कुछ फलक और पत्थर के शिल्प नौवीं और दसवीं शताब्दी में बने हुए यहाँ प्राप्त हुए है। इन दुर्लभ शिल्पों में बुद्ध, मैत्रेय, मंजुश्री, लोकेश्वर और बुद्ध के श्रावस्ती चमत्कारों को दर्शाती कुछ फलकें आदि है। एक 8वीं–9वीं शताब्दी की मिट्टी की फलिका जिस पर उस युग की लिपि में बौद्ध धर्मसार उत्कीर्ण है। पत्थर की शिल्पकला के अलावा धातु (कांसे) की बनी पुरुषों की दो आकृतियों भी यहाँ मिली थी जिनमें से एक हाथ जोड़ें हुए थी तथा दूसरी अपने दाहिनें हाथ में पद्म–पुष्प लिए हुए थी। इन शिल्पों के अतिरिक्त यहाँ टेराकोटा के टाइल भी बहुतायत में प्राप्त हुए थे जिन पर अलंकृत बौद्ध कला के दृश्य बखुबी अंकित थे। ये सभी कलाकृतियाँ दसवीं शताब्दी का इतिहास बताती है।

(3) लुम्बिनी शान्ति पगोडा (विश्व शान्ति स्तूप):–

वर्तमान समय में भारत एवं नेपाल सरकार मिलकर लुम्बिनी में नये–नये निर्माण, प्राचीन पुरातात्विक कलाओं का संरक्षण तथा लुम्बिनी के विकास में निरन्तर प्रयासरत है। साथ ही विभिन्न विदेशी बौद्ध देश भी लुम्बिनी तीर्थ स्थलों में विहारों का निर्माण एवं अन्य प्रकार से सहयोग दे रहे है। शान्ति पगोडा सफेद संगमरमर से बना ताजमहल का प्रतिरूप लगता है। यह शान्ति स्तूप बहुत कुछ सांची के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप की अनुकृति ही है। स्तूप की कुल ऊँचाई 42.50 मीटर है और इसका व्यास 56.6X3 मीटर है। स्तूप में बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं यथा–लुम्बिनी में जन्म, बोधगया, में बुद्धत्व की प्राप्ति, सारनाथ में प्रथम धर्मोपदेश तथा कुशीनगर में महापरिनिर्वाण के चार दृश्यों को चार दिशाओं में एक बड़ें आले के अन्दर संगमरमर में खोदकर बनाया है। विश्व शांति स्तूप की स्थापत्य कला की भव्यता को देखकर लोग अत्यंत मुग्ध हो जाते हैं। अन्य बौद्ध तीर्थ स्थलों के साथ लुम्बिनी में भी देश–विदेश से बौद्ध तीर्थ यात्री आते हैं। यहाँ से प्राप्त मूर्तियों के रख–रखाव के लिए भारत सरकार ने लुम्बिनी में एक संग्रहालय का निर्माण कराया जो आज लुम्बिनी की शोभा बढ़ा रही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सैमुअल बील, लाईफ ऑफ ह्वेनसांग, पृ0–72
2. आनन्द प्रकाश श्रीवास्तव, बौद्ध वास्तुकला एवं एशिया की राश्ट्रीय संस्कृतियाँ, नई दिल्ली, 1992, पृ0 21
3. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ0 6
4. वासुदेव उपाध्याय, प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ0 7
5. कलिंग बोध जातक, सं0 479, 1970–71, पृ0 203
6. इण्डियन आर्कियोलॉजी–ए रिव्यु, नई दिल्ली, 1981, पृ0 123
7. मधुकर पिपलायन, लुम्बिनी, पृ0 79
8. वही, ऊपर, पृ0 79
9. मधुकर पिपलायन, लुम्बिनी, पृ0 80
10. वही, ऊपर, पृ0 80

पालि साहित्य में विपस्सना का स्वरूप

शोधार्थी- अनिल कुमार मौर्य, (पी.एच.डी.), बौद्ध अधययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

जब कोई बोधिसत्व अनेक जन्मों में अपनी दस पारमिताओं, दस उपपारमिताओं एवं दस परमार्थ पारमिताओं को आवश्यक मात्रा में पूरी कर लेता है तब वह अपने अंतिम जीवन में सम्यक्–सम्बुद्ध बनता है। इसके पूर्व वह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों को परिपुष्ट करता है।[1] इन सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का सार चार आर्यसत्य हैं। इन चार आर्यसत्यों का सार आठ अंग वाला आर्यअष्टांगिक मार्ग है। आर्य अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत शील, समाधि और प्रज्ञा है। शील और समाधि आचरण से तथा प्रज्ञा विपश्यना से संबंधित है।[2]

प्रज्ञा ही विपस्सना है। ध्यान एवं प्रज्ञा अन्योन्याश्रित है तथा वे एक दूसरे के पूरक हैं। ध्यान का एक विस्तृत और व्यावहारिक क्रम हमें बुद्धवचनों में मिलता है। भगवान बुद्ध ने ध्यान को बहुत महत्व दिया था। वे अपने शिष्यों को ध्यान के लिए हमेशा प्रेरणा दिया करते थे। भिक्षुओं ध्यान करो। ध्यान में प्रमाद मत करो। वे सदैव ध्यान की प्रशंसा करते थे।[3] जो ध्यानयोगी है उसका मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है।

विपस्सना का अर्थ –

विपस्सना भगवान बुद्ध द्वारा सिखलाई गयी अंतर्दृष्टि वाली ध्यान विधि है। विपस्सना में (वि+दृश धातु + शतृ प्रत्यय) जहाँ वि उपसर्ग, दृश धातु एवं शतृ प्रत्यय शब्दों के योग से पस्सना बना है। वि का आशय विशेष प्रकार से है एवं पस्सना का अर्थ देखना होता है, अर्थात् वस्तुओं को विशेष रूप से देखना या सम्यक प्रकार से अनुभव करना विपस्सना कहलाता है।[4] विपस्सना स्वयं के चित्त विशुद्धि की ध्यानविधि है।

विपस्सना द्वारा प्रत्येक साधक उत्पन्न व नष्ट होने वाले नाम–रूप धर्मों में उसके अनित्य स्वभाव, दुःखरूप एवं अनात्म भाव को सम्यक रूप से देखने लगता है।[5] जैसे–जैसे विपस्सना का अभ्यास करते हैं वैसे–वैसे अनुभूति के स्तर पर चित्त और शरीर के प्रपंच का उत्पाद–व्यय मालूम होने लगता है कि शरीर स्कन्ध न तो मैं है, न तो मेरा है और यह किसी आत्मतत्व अथवा सार से शून्य है। इसी प्रकार चित्त स्कन्ध भी न तो मैं है और न मेरा है। यह भी किसी आत्मतत्व अथवा सार से शून्य है।[6] विपस्सना द्वारा साधक अपने दृष्टि क्लेश का प्रहाण करता है।[7] जिससे चित्त विकार विमुक्त हो जाता है।

विपस्सना में वेदना का महत्त्व

मानव को उसके दुःखों से छुटकारा दिलाने में उसके शरीर पर होने वाली संवेदनाओं का विशेष महत्त्व है। बाह्य वस्तु और मानस में जागने वाली तृष्णा के बीच एक कड़ी रहती है। यह कड़ी शरीर पर होने वाली संवेदना है। जैसे ही किसी बाह्य वस्तु का स्पर्श शरीर की इंद्रियों से होता है। अथवा मन में कोई भाव जागता है वैसे ही शरीर पर संवेदना पैदा होती है। इसीलिए कहा गया है कि सभी धर्म वेदना के साथ संसरण करते है।[8]

यदि संवेदना सुखद लगे तो इसे देर तक बनाए रखना चाहते हैं एवं दुःखद प्रतीत होती है तो इससे जल्दी छुटकारा पा लेना चाहते हैं। इस प्रकार हम राग और द्वेष के बंधनों में बंधने लगते हैं जो प्राणिमात्र के दुःख का कारण है। पटिच्चसमुप्पादसुत्त में कहा गया है– फस्सपच्चया वेदना, वेदना पच्चया तण्हा।

अर्थात्– स्पर्श होने से वेदना और वेदना होने से तृष्णा जागती है।

इस प्रकार हमारे दुःखों का कारण बाहर न होकर अपने भीतर पैदा होने वाली संवेदना है जिसके प्रति हम प्रतिक्रिया करते रहते हैं। अतः दुःख से छुटकारा पाने के लिए तृष्णा से छुटकारा पाना आवश्यक है यह तभी संभव है जब शरीर पर होने वाली संवेदनाओं को जानकर हम इनके प्रति न राग करें, न द्वेष, बल्कि इनके अनित्य स्वभाव को समझते हुए तटस्थ बने रहें।

जैसे आकाश में विविध प्रकार की वायु प्रवाहमान होती हैं– पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भी, धूलभरी, धूलहीन, शीतल, उष्ण, प्रमत्त और शांत , वैसे ही शरीर में वेदनाएं –सुखद, दुखद, असुखद–अदुखद उत्पन्न होती है।[9] जो अस्थाई होती है।

ब्रह्मजाल सुत्त में भगवान बुद्ध संवेदनाओं का महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं कि सम्यक–संबोधि प्राप्त करने के लिए उन्होंने कैसे प्रयत्न किये –

भिक्षुओं, संवेदनाओं की उत्पत्ति, उनका व्यय, उनके आस्वादन में भय और उनसे मुक्ति इन सबको निहित सच्चाई के आधार पर अनुभव करके तथागत अनासक्त और मुक्त हो गये।[10] भगवान बुद्ध ने बार–बार शरीर पर होने वाली संवेदना के द्वारा अनित्यता बोध पर जोर दिया। उन्होने कहा–''जिसकी कायानुस्मृति नित्य रहती है, वे साधक कभी कोई अकरणीय कर्म नहीं करते। सदा करणीय ही करते है, ऐसे स्मृतिमान और प्रज्ञावान साधक आश्रव क्षय को प्राप्त होते है। अर्थात् उनके चित्त के मैल नष्ट हो जाते है।[11]

समथ और विपस्सना

पालि साहित्य में समथ और विपस्सना का कहीं–कहीं एक साथ उल्लेख मिलता है। इन्हें दो दूतों की संज्ञा दी गई है जो सत्य के संदेशवाहक है और निर्वाण तक ले जाते हैं।[12] भगवान बुद्ध अपने उपदेशों में समथ और विपस्सना का उल्लेख करते हुए बतलाते है, कि इन दोनों का साथ–साथ भावना करने से अनेक धातुओं के तह तक पहुचने में सहायता मिलती है।[13]

समथ का उद्देश्य मन को विक्षेप–विहीन करके समाधि में पुष्ट करना होता है। समथोति चित्तेकग्गता अर्थात समथ चित्त की एकाग्रता को कहते है। जो विपस्सना में सहायक होती है। विपस्सना का उद्देश्य यथाभूत ज्ञानदर्शन है, अर्थात् शरीर व चित्त के स्तर पर जो अनुभूति हो रही है उसे प्रज्ञापूर्वक जानना होता है। ये दोनों मिलकर निर्वाण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आनापान–सति की साधना समथ की ओर ले जाती है और सतिपट्ठान विपस्सना की ओर ले जाती है।[14]

विपस्सना के अभ्यास से सिद्धार्थ गौतम ने राग, द्वेष एवं मोह के आवरण का भेदन किया। समस्त संसार को संस्कृत करने वाले कार्य–कारण श्रृंखला प्रतीत्यसमुप्पाद की खोज की।[15]

प्रतीत्यसमुत्पादीय शिक्षा के स्वभाव को अनुभव पर उतारते–उतारते चार आर्यसत्यों का प्रकाशन स्वतः होने लगता है। दुःख और समुदय का प्रकाशन अनुलोम की अनुभूति से और निरोध और मार्ग का प्रकाशन प्रतिलोम की अनुभूति से आठ अंग वाला आर्यमार्ग भावित होता है, तो सति, धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि और उपेक्खा ये सातों बोज्झङ्ग भावित हो जाते हैं, सद्धा, वीरिय, सति, समाधि तथा पञ्ञा–ये पांच बल और पांच इन्द्रिया भावित हो जाती हैं, कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना और धम्मानुपस्सना – ये चार सतिपट्ठान भावित हो जाते हैं, संवर, पहान, भावना और अनुरक्खण – ये चार सम्माप्पधान भावित हो जाते हैं, और तभी छन्द, वीरिय, चित्त और वीमांसा – ये चार इद्धिपाद भावित हो जाते हैं।[16] भगवान बुद्ध ने इन सैंतीस बोधिपक्खिय धर्मों को धर्मचक्र की धुरी कहा है। विपस्सना द्वारा इन धर्मों का अभ्यास करने से सत्वों की विशुद्धि, शोक और क्रंदन का विनाश, दुःख और दौर्मनस्स का अवसान, सत्य की प्राप्ति और निर्वाण का साक्षात्कार होता है।[17]

वर्तमान में विपस्सना की स्थिति–

सम्यक् सम्बुद्ध होने के पश्चात भगवान बुद्ध 45 वर्षों तक अनवरत बहुजन हिताय एवं बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय के लिए विपश्यना ध्यान का प्रचार प्रसार करते रहे। परन्तु कालान्तर में यह विद्या भारत से लुप्त हो गई। लेकिन गुरु–शिष्य परम्परा अन्तर्गत म्यानमार (वर्मा) में विपस्सना विद्या से लोग लाभान्वित होते रहे। सन् 1969 में श्री सत्यनारायण गोयन्का जी ने भारत में इसका प्रचार–प्रसार प्रारंभ किया। आज उनकी प्रेरणा से भारत में लगभग 80 विपस्सना साधना केन्द्र एवं विदेशों में भी लगभग 75 विपस्सना साधना केन्द्र है। जहां नियमित रूप से 10 दिन/20 दिन/30 दिन/45 दिन /60 दिन के आवासीय शिविरों का संचालन होता है। जिसमें भगवान बुद्ध द्वारा प्रज्ञप्त समथ भावना, विपस्सना भावना एवं मैत्री भावना का अभ्यास कराया जाता है।

इगतपुरी में इसका मुख्य कार्यालय है। वर्तमान में विपस्सना साधना से विभिन्न पृष्ठ भूमि के लोग लाभान्वित हो रहें है। कारागारों में कैदियों के लिए, विभिन्न शैक्षिणिक संस्थानों में एवं राजकीय संस्थानों में शिविरों का आयोजन किया जा रहा है। जिससे साधक के आध्यात्मिक एवं भौतिक क्षेत्र में उन्नति हो रहीं है।

आत्मिक उन्नति एवं शारीरिक स्वास्थ के लिए विपश्यना साधना एक कारगर उपाय है। स्वयं की उन्नति में यह बहुत सहायक है और प्रत्येक प्राणी के प्रति सदभावना, मैत्री एवं करूणा को विकसित करती है।

संदर्भः–

1 चत्तारों सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्पप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा, पञ्चिन्द्रियानि, पञ्च बलानि, सत्त बोज्झङ्गा, अरियोअट्ठङ्गिको.....
बोध्पिक्खिया नाम – विसुद्धिमग्ग–ञाणदस्सनविसुद्धिनिद्देस– विपश्यना विशोधन विन्यास– 2.315।

2. आचार्य सत्यनारायण गोयन्का, तिपिटक में सम्यक् संबुद्ध भाग–2, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, पृष्ठ–157

3. एतानि भिक्खवे, रूक्खमूलानि, एतानि सुञ्ञागारानि। झायथ, भिक्खवे, मा पमादत्थ, मा पच्छा विघटिसारिनो अहुवत्थ, अयं वो `अम्हाके अनुसासनी'ति – मज्झिमनिकाय, मुलपण्णसपालि सीहनादवग्ग, विपश्यना विशोधन विन्यास, 1.66,

4. पञ्ञति ठपेत्वा विसेसेन पस्सतीति विपस्सना – नेतिपकरम अट्ठकथा (बर्मी संस्करण), पृष्ठ–133

5. धम्मपद, मग्ग वग्ग–गाथा 277–279।

6. नेतं मम, नेसोह्यस्मिं, न मे सो अन्ता'ति। मज्झिम निकाय, मूलपरियाय वग्ग– विपयश्ना विशोधन विन्यास – 1.51

7. दिट्ठिसंकिलेसो विपस्सनाय विसुज्झति, सा विपस्सना पञ्ञाक्खन्धे ति । 'नेत्तिपकरण पालि, पटिनिद्देसवारो–विपस्सना विशोधन विन्यास –.78

8. वेदना समोसरणा सब्बे धम्मा, अङ्गुत्तरनिकाय, अट्ठकनिपात, सतिवग्ग, मूलकसुत्त– विपश्यना विशोधन विन्यास– 3.158।

9. यथापि वाता आकासे, वायन्ति विविध पुथू । पुरत्थिमा पच्छिमा चापि, उत्तरा अथ दक्खिणा ।।
सरजा अरजा चापि, सीता उण्हा च एकदा । अधिमत्ता परित्ता च, पुथू वायन्ति मालुता । तथेविमस्मिं कायस्मिं, समुप्पजन्ति वेदना ।।
सुख दुख समुप्पति, अदुक्खमसुखा च या ।। संयुत्तनिकाय, वेदनासयुंक्त, पठमआकाससुत्तं वि.वि.वि., इगतपुरी – 2.214

10. दीघनिकाय ब्रह्मजाल सुत्त– विपस्सना विशोधन विन्यास, इगतपुरी 1.14।

11. धम्मपद , पकिण्णकवग्ग, गाथा – 293

12. अंगुत्तर निकाय्, दुकनिपात, बालवग्ग, विपस्सना विशोधन विन्यास, इगतपुरी– 1.75।

13. तेन हि त्वं, वच्छ, द्वे धम्में उत्तरि भावेहि– समथञ्च विपस्सनञ्च। ..... अनेक धातुपटिवेधाय संवत्तिस्सन्ति।– मज्झिम निकाय, मज्झिमपण्णास, महावच्दगोत्तसुत्त विपस्सना विशोधन विन्यास, इगतपुरी– 2.171।

14. विपश्यना पत्रिका, 3 मार्च 1988, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी

15. विनयपिटक, महावग्ग 1–2

16. आचार्य सत्यनारायण गोयन्का, तिपिटक में सम्यक्–सम्बुद्ध भाग–2, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, पृष्ठ 154

17. एकायनो अयं, भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया..... निब्बानस्स सच्छिकिरियाय, महासतिपट्ठानसुत्त विपस्सना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 2.213।

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।

व्यक्ति अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई उसका स्वामी क्या होगा? अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामी निर्वाण को पाता है।

बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का स्थान

शत्रुधन कुमार, शोध छात्र, पालि विभाग, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा

धम्मपद पालि बौद्ध–साहित्य का एक अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। वैदिक या श्रौतस्मार्त–परम्परा में जो महत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता को प्राप्त है, वहीं स्थान बौद्ध–परम्परा में धम्मपद को है। दोनों में मौलिक अन्तर भी है। जैसे गीता का एक ही कथानक है और श्रोता भी एक ही है लेकिन धम्मपद के विभिन्न कथानक और विभिन्न श्रोता हैं। गीता का उपदेश एक निश्चित समय में समाप्त किया गया था, लेकिन धम्मपद में तथागत के पैंतालीस वर्षों के उपदेश संगृहीत है। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व–प्राप्ति से लेकर परिनिर्वाणपर्यनत समय–समय पर जो उपदेश दिए उनका महत्त्वपूर्ण अंश धम्मपद में संकलित है। बौद्धधर्म–दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त इसमें संक्षेप में समाहित है।

धम्मपद शीर्षक की व्याख्या भिन्न–भिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न प्रकार से की गई है। यह एक अनेकार्थक शब्द है जिसे स्वतः बौद्धों ने भी स्वीकार किया है। धम्मपद में दो शब्द हैं– धम्म और पद। 'धम्म' शब्द संस्कृत के धर्म शब्द का पालि रूपान्तर है। बौद्ध–साहित्य में धर्म शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त है और इसकी एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। धम्म के अनेक अर्थ किए गए हैं यथा– अनुशासन, कानून या धर्म। इसका अर्थ प्रसंग के अनुसार ही लगाया जा सकता है। प्रायः इसका प्रयोग विशेष रूप से बुद्ध के द्वारा उपदेशित धर्म या कानून से है जो प्रत्येक बौद्ध को स्वीकार करना चाहिए तथा उस पर आचरण करना चाहिए। धम्मपद में भी 'धम्म' शब्द 'सदाचार' के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इस रचना का मुख्य प्रतिपाद्य–अप्रमाद, अक्रोध, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और अवैर आदि सदाचार के नियम है। बौद्धधर्म के पंचशील, दशशील, आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग आदि नियमों और सिद्धान्तों का इसमें विवेचन है। पद के भी कई अर्थ हैं– स्थान, सुरक्षा, निर्वाण, कारण, शब्द, वस्तु, अंश, पदचिन्ह आदि। अतः धम्मपद का अर्थ धर्म का पदचिन्ह होता है। इसके अतिरिक्त 'पद' शब्द का अर्थ वाक्य या गाथा भी है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म–सम्बन्धी शब्दों, वाक्यों या गाथाओं को भिक्षु उनके जीवन–काल में ही कण्ठस्थ करने लगे थे। सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग को बुद्ध के एक शिष्य ने उनके सामने सस्वर सुनाया था। इसी प्रकार दूसरे बुद्ध–वचन भी भिक्षुओं के द्वारा कण्ठस्थ किए जाते थे और उनका किसी न किसी रूप में संकलन भी उस समय विद्यमान था। धम्मपद ऐसा ही एक संकलन है। स्वयं 'धम्मपद' की दो गाथाओं में 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह उसकी प्राचीनता का सूचक है। ये दोनों गाथाएँ इस प्रकार है।

''को इमं पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति।।''

''कौन इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित इस यमलोक को जीतेगा? कौन कुशल पुरूष के समान इस सुन्दर रूप से उपदिष्ट 'धम्मपद' को चुनेगा ?''

''सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकञ्च इमं सदेवकं।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति।।''

''शैक्ष्य पुरूष इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित यमलोक को जीतेगा। शैक्ष्य पुरूष पुष्प के समान इस सुन्दर रूप से उपदिष्ट 'धम्मपद' को चुनेगा।''

संयुक्तनिकाय में भी 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग धर्मपदों के रूप में हुआ है। इस निकाय के 'पियंकर–सुत्त' में कहा गया है कि एक बार भिक्षु अनिरूद्ध श्रावस्ती के जेतवना राम में प्रातःकाल कुछ धर्मपदों का पाठ कर रहे थे और उन्हें सुनने की आतुरता में एक स्त्री अपने शोर करते हुए पुत्र को चुप करती हुई कहती है– ''मेरे प्रियंकर! चुप हो जा। शोर मत कर। देख, यह भिक्षु धर्मपदों को पढ़ रहा है। यदि हम धर्मपदों को जानेंगे तो हमारा कल्याण होगा।'' इस प्रकार बुद्ध–वचन के रूप में धम्मपद की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है।

धम्मपद सुत्तपिटक में खुद्दक निकाय के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें कुल 26 वर्ग और 423 गाथाएँ हैं। धम्मपदट्ठकथा के अनुसार इसकी संख्या 424 है, क्योंकि गाथा–संख्या 416 से सम्बन्धित दो कथाएँ है। दोनों की राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में कही गई थीं, जिनमें एक जटिल स्थविर के और दूसरी जोतिय स्थविर के सम्बन्ध की है। बौद्ध–परम्परा इन्हें भिन्न–भिन्न अवसरों पर बुद्ध द्वारा कही हुई स्वीकार करती है। यद्यपि इस मान्यता को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करना कठिन है, परन्तु धम्मपद को प्रायः खुद्दकनिकाय के अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर का माना जाता है।

प्रथम अध्याय 'यमकवग्ग' में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो–दो बातें जोड़े के रूप में आती है, जिनके द्वारा बुरे मन से किए गए कार्य का फल बुरा और पवित्र मन से किए गए कार्य का फल सुखद होता है। गाली देने से वैर शान्त नहीं होता, अपितु उसे मन में न करने से शान्त होता है। आत्मसंयम, वास्तविक श्रामण्य और सत्संकल्प के स्वरूप और महत्त्व के वर्णन इस वर्ग के मुख्य विषय है। इस वर्ग में 20 गाथाएँ है।

दूसरे 'अप्पमादवग्ग' में प्रमाद की निन्दा और अप्रमाद की प्रशंसा की गई है। अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग–क्षेम निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। जो प्रमाद नहीं करता वह निर्वाण के समीप कहा गया है। इस वर्ग में 12 गाथाएँ हैं।

तीसरे 'चित्तवग्ग' में चित्त–संयम का वर्णन है। इसमें बताया गया है कि दमन किया हुआ चित्त सुखी होता है। मिथ्या दृष्टि में लगा हुआ चित्त सबसे बुरा होता है। लेकिन इसके विपरीत सम्यक् दृष्टि में लगा हुआ चित्त सबसे श्रेष्ठ होता है। इस वर्ग में 11 गाथाएँ हैं।

चौथे अध्याय 'पुप्फवग्ग' में पुण्य चुनने को भाँति अत्यधिक पुण्यकर्म करने का सन्देश है। इस वर्ग में पुण्य को आलम्बन मानकर नैतिक उपदेश दिया गया है। व्यक्ति को चाहिए कि दूसरों के दोषों को न देखे, प्रत्युत अपने ही कृत्याकृत्य का अवलोकन करे। शील की गन्ध सभी गन्धों से उत्तम है। इस वर्ग में 17 गाथाएँ हैं।

पाँचवें अध्याय 'बालवग्ग' में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिए संसार (आवागमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सांसारिक उन्नति और परमार्थ के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है कि लाभ का रास्ता दूसरा और निर्वाण की ओर ले जानेवाला दूसरा है। इस प्रकार जानकर बुद्ध का अनुयायी भिक्षु सत्कार का अभिनन्दन नहीं करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है। इस वर्ग में 16 गाथाएँ है।

छठे अध्याय 'पण्डितवग्ग' में वास्तविक पण्डित के लक्षण बतलाए गए हैं जो अपने लिए या दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य की स्पृहा नहीं करते, जो अधर्म से उन्नति नहीं चाहते हैं, वही सदाचारी पुरूष प्रज्ञावान् और धार्मिक है। इस वर्ग में 14 गाथाएँ है।

सातवें अध्याय 'अरहन्तवग्ग' में काव्यमय भाषा में अर्हतों के लक्षण बतलाए गए है। अर्हत् पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता, बल्कि इन्द्रकील के समान अचल होता है। उसके काय, मन और वचन शान्त होते है। इस वर्ग में 10 गाथाएँ है।

आठवें अध्याय 'सहस्सवग्ग' में हजार की उपमा से उपदेश दिए गए है। लड़ाई के मैदान में हजारों मनुष्यों को जीतने की अपेक्षा स्वयं को जीतना उत्तम विजय है। सिद्धान्त के मनभर से अभ्यास का कणभर अच्छा है। सहस्त्रों यज्ञों से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। इस वर्ग में 17 गाथाएँ हैं।

नवें अध्याय 'पापवग्ग' में पाप न करने तथा पुण्य का संचय करने को कहा गया है। यदि व्यक्ति एक बार पाप कर ले तो उसे दुबारा नहीं करना चाहिए। क्योंकि पुण्य का ही दूसरा नाम सुख है। इस वर्ग में 13 गाथाएँ हैं।

दसवें अध्याय 'दण्डवग्ग' में कहा गया है कि सभी दण्ड से भय खाते हैं, इसलिए सबको अपने समान समझें, न तो किसी को मारें और न मारने के लिए किसी को प्रेरित करें। इस वर्ग में 17 गाथाएँ हैं।

ग्यारहवें अध्याय 'जरावग्ग' में वृद्धावस्था के दुःखों का वर्णन है। इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्‌गार भी सन्निहित है, जो उन्होंने सम्यक् सम्बोधि के अनन्तर व्यक्त किए थे। इस वर्ग में 11 गाथाएँ विद्यमान है।

बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का स्थान

बारहवें अध्याय 'अन्तवग्ग' में आत्मोन्नति का मार्ग दिखाया गया है। इसमें कहा गया है कि पहले अपने को उचित कार्य में लगावे, तदनन्तर दूसरे को उपदेश दे। इस वर्ग में 10 गाथाएँ हैं।

तेरहवें अध्याय 'लोकवग्ग' में लोक–सम्बन्धी उपदेश है। इसके अन्तर्गत नीच कर्म न करना, प्रमाद में न रहना, आवागमन के चक्र में न पड़ना तथा धर्म का आचरण करना बतलाया गया है। इस वर्ग में 12 गाथाएँ हैं।

चौदहवें अध्याय 'बुद्धवग्ग' में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सर्वोत्तम सार दिया हुआ है। इस वर्ग में 18 गाथाएँ हैं।

पन्द्रहवें अध्याय 'सुखवग्ग' में उस सुख की महिमा गायी गई है, जो धन–सम्पत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी तथा अकिंचनतामय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। इस वर्ग में 12 गाथाएँ हैं।

सोलहवें अध्याय 'पियवग्ग' में यह कहा गया है कि जिसके जितने ही अधिक प्रिय हैं, उसको उतने ही अधिक दुःख हैं इसलिए प्रिय न बनाए। प्रिय से शोक और भय उत्पन्न होता है। ऐसे ही प्रेम, रति, काम और तृष्णा से, किन्तु इससे रहित को शोक और भय नहीं होते। इस वर्ग में 12 गाथाएँ हैं।

सत्रहवें अध्याय 'कोधवग्ग' में क्रोध को त्यागने का उपदेश है। सत्य, अक्रोध और दान इन तीन बातों से व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर लेता है इस वर्ग 14 गाथाएँ है।

अठारहवें अध्याय 'मलवग्ग' में अपने चित्तमल को साफ कर अपनी रक्षा के लिए द्वीप बनाने का उपदेश है। इस वर्ग में 21 गाथाएँ हैं।

उन्नीसवें अध्याय 'धम्मट्ठवग्ग' में धर्म में स्थिर रहने वालों की प्रशंसा की गई है। पण्डित, धर्मधर, स्थविर, श्रमण, भिक्खु, मुनि, आर्य, कौन होता है, का विश्लेषण किया गया है। इस वर्ग में 17 गाथाएँ हैं।

बीसवें अध्याय 'मग्गवग्ग' में निर्वाणगामी मार्ग का वर्णन है। मार्गों में आर्य अष्टांगिक मार्ग में चार आर्यसत्य, धर्मों में वैराग्य और मनुष्य को चाहिए कि वाणी की रक्षा करनेवाला और मन से संयमी होकर शरीर से पाप न करे। इस प्रकार तीन कर्मपथों की शुद्धि करते हुए बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेशों का सेवन करना चाहिए। इस वर्ग में 17 गाथाएँ हैं।

इक्कीसवें अध्याय 'पकिण्णकवग्ग' में कुछ फुटकर उपदेश है। यदि थोड़े से सुख के त्याग से महान् सुख देखे तो धीर व्यक्ति को चाहिए कि उस थोड़े सुख को त्याग दे। श्रद्धावान्, शीलवान्, यश और भोग से युक्त व्यक्ति जिस–जिस स्थान में जाता है, वहीं सम्मानित होता है। अहिंसा और शरीर के दुःख दोषानुचिन्तन आदि का वर्णन भी किया गया है। इस वर्ग में 16 गाथाएँ हैं।

बाईसवें अध्याय 'निरयवग्ग' में नरक में उत्पन्न होनेवालों का वर्णन है। कहा गया है कि असत्यवादी नरक में जाता है और वह भी जो करके नहीं किया कहता है। इस प्रकार दोनों की गति मरने पर एक समान है। इस वर्ग में 14 गाथाएँ है।

तेईसवें अध्याय 'नागवग्ग' में हाथी के समान अडिग रहने का उपदेश है। भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार नाग (हाथी) युद्धभूमि में धनुष से गिरे बाण को सहन करता है वैसे ही मैं कटुवाक्यों को सहन करूँगा, क्योंकि संसार में दुःशील लोग ही अधिक है। इस वर्ग में 14 गाथाएँ हैं।

चौबीसवें अध्याय 'तण्हावग्ग' में तृष्णा का वर्णन है। तृष्णा के ही कारण मनुष्य दुःखों में पड़ा है। यह सभी पापों की जननी है। लेकिन जो इससे रहित है उसे शोक नहीं होता। इस वर्ग में 27 गाथाएँ है।

पचीसवें अध्याय 'भिक्खुवग्ग' में सच्चे भिक्षु का स्वरूप बताया गया है तथा यह बताया गया है कि एक सच्चे भिक्षु को क्या करना चाहिए यथा भिक्षु इन्द्रियों में संयम करे, सन्तोषी हो और प्रातिमोक्ष की रक्षा करे, शुद्ध जीविकावाला हो, निरालस रहे तथा मित्रों का साथ करे। इस वर्ग में 23 गाथाएँ हैं।

छब्बीसवें अध्याय 'ब्राह्मणवग्ग' में ब्राह्मणों के लक्षण बतलाए गए हैं तथा वास्तविक ब्राह्मण की परिभाषा की गई है। ब्राह्मण का अर्थ है सभी पापों से रहित व्यक्ति, ज्ञानी और अर्हत्। इस वर्ग में 41 गाथाएँ है।

उपर्युक्त धम्मपद की विषयवस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि उसमें नीति–सम्बन्धी सभी आदर्श निहित हैं, जो भारतीय संस्कृति और समाज की सामान्य सम्पत्ति है। इसकी गाथाओं में शील, समाधि, प्रज्ञा, निर्वाण आदि का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन है, जिसको पढ़ते हुए एक अद्भुत संवेग, धर्मरस, शान्ति, ज्ञान और संसार–निर्वेद का अनुभव होता है। इस सम्बन्ध में भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में ''धम्मपद को इस प्रकार बौद्धों की गीता ही कहना चाहिए। सिंहल में बिना धम्मपद का पारायण किए किसी भिक्षु को उपसम्पदा नहीं होती। वर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओस में भी धम्मपद का कण्ठस्थ होना प्रायः प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक माना जाता है। बुद्ध–उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालि–साहित्य में नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुणपूर्ण भी है।''

श्री अल्बर्ट जे0 एडमण्ड ने 'धम्मपद' के अपने अंग्रजी अनुवाद की भूमिका में लिखा है– ''यदि एशिया–खण्ड में कभी किसी अविनाशी ग्रन्थ की रचना हुई, तो वह यह है। इन पदों ने अनेक विचारकों के हृदय में चिन्तन की आग जलायी है। इन्हीं से अनुप्राणित होकर अनेक चीनी यात्री मंगोलिया के भयानक कान्तार और हिमालय की अलंध्य चोटियाँ लाँघकर भगवान् बुद्ध के चरणों से पूत भारत–भूमि के दर्शनार्थ आए। बुद्ध के धर्मपदों की प्रेरणा से ही सम्राट अशोक ने अपने राज्य में प्राणदण्ड का निषेध किया था और मनुष्यों तथा जानवरों तक के लिए अस्पताल खोले थे।''

पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन का कथन बिल्कुल ठीक है कि यदि केवल एक पुस्तक को जीवनभर साथी बनाने की कभी इच्छा हो तो विश्व के पुस्तकालय में 'धम्मपद' से बढ़कर दूसरी पुस्तक मिलनी कठिन है।

धम्मपद मूलतः बुद्ध–वचन है अतः इसका रचना–काल अज्ञात है। लेकिन बाद के साक्ष्यों के आधार पर यह पता चलता है कि चीनी यात्री ह्वेनसांग जिसने सातवीं शताब्दी में भारत का भ्रमण किया, उसका विचार है कि त्रिपिटक काश्यप के द्वारा प्रथम संगीति के अन्त में ताम्रपत्रों पर लिखा गया था, जो बाद में राजा बट्टगामिनि के शासन–काल में (88 से 76 ई0 पूर्व) उसे पुस्तकों में इसलिए लिपिबद्ध कर दिया गया कि बौद्धधर्म युगों तक जीवित रह सके। अतः स्पष्ट है कि धम्मपद का वर्तमान रूप इसी समय निश्चित हुआ था।

धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद प्राप्त है। विशेष उल्लेखनीय अंग्रेजी अनुवाद मैक्समूलर (एस0 बी0 ई0), राधाकृष्णन्, नारदथेर, एफ0 एल0 वुडवर्ड, ए0 एल0 एडमण्ड, इरविंग बैबिट और यू0 धम्मज्योति के तथा हिन्दी अनुवाद महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के है। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित धम्मपद का देवनागरी संस्करण भी खुद्दकनिकाय–पालि की प्रथम जिल्द में विद्यमान है। विभिन्न विद्वानों ने अपने संस्करणों में धम्मपद और इसमें प्राप्त उपदेशों के विषय में न्यूनाधिक विस्तृत विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएँ भी लिखी है। धम्मपद को समझने में अट्ठकथा भी अत्यन्त सहायक है, जिसका बर्लिगेम ने अंग्रजी अनुवाद प्रस्तुत किया है और जिससे यह सूचना प्राप्त होती है कि बौद्ध–परम्परा के अनुसार किन अवसरों पर बुद्ध ने विभिन्न गाथाएँ कही थीं।

इस प्रकार बौद्ध–साहित्य में धम्मपद का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पावन ग्रन्थों को व्यवहारिक रूप से अपना कर अन्धविश्वास, पाखंड, भय मुक्त एवं समतामूलक समाज का निर्माण किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. उपाध्याय, भरतसिंह; पालि साहित्य का इतिहास, इलाहावादः हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 2000.
2. कौसल्यायन, भदन्त आनन्द; धम्मपद, सारनाथः बुद्धाब्द, 2484.
3. एफ0, मौक्समूलर, धम्मपद, दिल्लीः सेक्रेट बुक्स ऑफ दी ईस्ट, 1965.
4. भिक्षु, धर्मरक्षित, धम्मपद (हिन्दी अनुवाद), दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास, 1983.
5. एस0, राधाकृष्णन्, धम्मपद, मद्रास, 1969.
6. विल्हेल्म गायगर, दीपवंश एवं महावंश, कोलम्बोः 1908.
7. नारद महाथेर, धम्मपद, कलकत्ता, 1970.
8. रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1950.

कनिष्क के स्वर्ण सिक्कों पर ईरानी प्रभाव

शोध छात्रा, सुमन कुमारी, प्रा0 इ0 सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, नव नालन्दा महाविहार (मानित विश्वविद्यालय)

मानव सभ्यता का इतिहास एवं विकास का अत्यंत प्राचीन इतिहास है। प्रारंभिक युग में मनुष्य कि खानाबदोसी प्रवृति के साक्ष्य मिलते है, भौगोलिक एवं अन्य प्राकृतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप मानव विकास की ओर अग्रसर हुआ और अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप एक स्थिर सामाजिक संगठन के सदस्य के रूप में विभिन्न प्रकार के आविष्कार एवं प्रयास प्रारंभ किया। सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्यों की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं में वृद्धि हुई, जिसकी परिपूर्त्ति हेतू उसने विभिन्न संसाधन का प्रयोग प्रारंभ किया। वस्तु–विनिमय प्रणाली भी इसी विकास–क्रम की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्रतिष्ठापित हुई, जो कालांतर में मुद्रा के प्रचलन के रूप में मनुष्य की आवश्यकताओं एवं जीवन–स्तर के विकास–क्रम में सहायक हुई।

जिस काल में भारतीय समाज में मुद्रा के रूप में धातु का प्रयोग हुआ उस समय इसे एक पिण्ड के रूप में अदान–प्रदान का माध्यम बनाया गया। वैदिक साहित्य में 'सुवर्णचुर्ण' और 'हिरण्यपिण्ड' का उल्लेख मिलता है, क्योंकि परीक्षण और तौल में अधिक समय लगता था। अतः आगे चलकर विद्वानों ने स्वर्ण या रजत पट्टियों को समान भार में काटकर उसका एक मानक मूल्य निर्धारित कर दिया। वैदिक–साहित्य में 'शतमान' या 'निष्क' नाम के इन्हीं सिक्कों का उल्लेख मिलता है[1]। ऋग्वेद में 'निष्क' शब्द का चार स्थानों पर उल्लेख हुआ है। ई0 थॉमस,[2] डी0 सी0 सरकार,[3] एस0 सी0 दास,[4] आदि प्रमुख इतिहासकार, ऋग्वेदीय निष्क को मुद्रा स्वीकार करते हैं, और इस प्रकार वे भारतीय मुद्रा का आरंभ ऋग्वेदीक काल से ही स्वीकार करते है।

भारत का सबसे प्राचीन पुरातात्त्विक प्रमाण सिक्कों का जो मिलता है, वह 'कार्षापण' का है। 'कार्षापण' लगभग सम्पूर्ण भारत के विभिन्न स्थलों की खुदाई से प्राप्त हुआ है। किन्तु एक बड़ी बात यह है कि 'कार्षापण' 'काहापण' और 'कहाण' नाम से बौद्ध–साहित्य में उल्लिखित यह सिक्का कहीं भी सोने का प्राप्त नहीं हुआ है। परंतु अधिकांश सिक्के चाँदी के हैं, जिसकी तौल 56 ग्रेन से 58 ग्रेन है। ताँबे के सिक्के भी कम मात्रा में मिले हैं। कार्षापण सिक्कों को 'आहत' के नाम से भी जाना जाता है। कर्ष (रत्ती बीज) से तौलने के कारण कार्षापण नाम दिया गया तथा चिन्ह अंकित करने के कारण ये आहत सिक्के के नाम से भी जाने जाते हैं। भारत के प्राचीन स्थलों की खुदाई से चिन्हित सिक्के अधिक संख्या में प्राप्त हुए हैं। इन कार्षापण (पंचमार्क) सिक्कों के साथ एन0 बी0 पी0 वेयर के मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं। इनकी तिथि वैज्ञानिक पद्धति से ई0 पू0 600 वर्ष आँकी गई है। इसी के आधार पर कार्षापण भी उसी काल में प्रचलित समझे जाते है[5]।

कार्षापण सिक्कों का निर्माणकर्त्ता कौन था ? सिक्के किस अधिकारी की आज्ञा से तैयार किये जाते थे ? इस बात को लेकर विद्धानों में मतभेद हैं। मौर्यकाल से पूर्व भारत में कोई ऐसा साम्राज्य स्थापित नहीं था, जो इस दिशा में कार्य कर सकता था। देश की समृद्धि व्यापार पर निर्भर थी, तथा व्यापार की उन्नति सिक्कों पर। प्राचीन काल में व्यापार श्रेणी या निगम जैसी संस्थाओं के हाथ में थी। अतः वे ही लोग सिक्के तैयार करवाते थे। कालांतर में सिक्कों का निर्माण राजकीय अधिकार में आ गया[6]।

भारत की पावन भूमि पर बहुत सारे भारतीय रातवंशो का उदय हुआ। उन्होंने यहाँ वर्षो तक शासन किया। भारतीय राजवंशों के अतिरिक्त यहाँ बहुत सारे विदेशी शासकों ने यहाँ के शासकों को पराजित कर अपना आधिपत्त्य स्थापित किया तथा भारतीय राज्यसिंहासन पर आसिन हुए। इन विदेशी शासकों में भारतीय–यूनानी, शक–पह्ल्व एवं कुषाण राजवंश शामिल हैं। इन सब राजवंश के शासकों ने अपने राज्यकाल में सिक्कों का प्रचलन किया। परंतु इन सब राजवंशों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'कुषाण वंश' के शासकों द्धारा प्रचलित सिक्कों को माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुषाण वंशीय शासकों ने भारतीय–संस्कृति के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण

योगदान दिया।

कुषाण जाति यूह–ची की एक शाखा थी, जो मध्य–एशिया से आकर बल्ख के भू–भाग में ई0 पू0 द्वितीय सदी में बस गई थी। इस वंश का संस्थापक कुजुल कदफिसेस था। कुजुल कदफिसेस हिंदुकुश के पार उसने अपने साम्राज्य का विस्तार आरम्भ किया। उसने दक्षिणी अफगानिस्तान, काबुल, गांधार, किपिन और पार्थिया के एक भाग को अपने राज्य में मिला लिया और अंत में यवन, शक और पह्ल्व राज्य को आत्मसात कर अपने साम्राट्य का निर्माण किया। उसने इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करने का सिक्का ही एक माध्यम है। कुजुल कदफिसेस की प्रारंभिक मुद्राओं पर 'कुशनस–यडस–कुजुलकफस–धुत–ठितस' उत्त्कीण है। कुजुल कदफिसेस के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी वीम कदफिसेस हुआ। वीम कदफिसेस ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया तथा प्रथम बार स्वर्ण मुद्राओं का प्रचलन करवाया। उसकी कुछ मुद्राओं पर महराज, सर्वलोकेश्वर तथा महेश्वर की उपाधि अंकित है। वह शैवमत को माननेवाला था, इसका प्रमाण उसकी मुद्राओं पर द्विभाज, त्रिशुलधारी, व्याघ्रचर्मग्राही, नन्दी–अभिमुख, भगवान शिव की अंकित आकृतियों से मिलता है[7]।

वीम कदफिसेस के पश्चात् कनिष्क प्रथम कुषाण राजवंश के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। कनिष्क वंश का सुप्रसिद्ध एवं शक्तिशाली शासक सिद्ध हुआ। उसने अपना साम्राज्य मध्य–एशिया से वाराणसी तक विस्तृत किया। कनिष्क प्रथम के राज्यकाल में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी। जिनमें शक–संवत की शुरूआत, गांधार–शैली का उदय एवं चतुर्थ–बौद्धसंगीति का आयोजन प्रमुख है। ऐसा माना जाता है कि कनिष्क बौद्धधर्म का अनुयायी था। परंतु अन्य धर्मों के प्रति भी वह उदार था। इस बात की पुष्टि उसके शासनकाल में प्रचलित मुद्राओं पर अंकित हिन्दु, बौद्ध, ग्रीक, ईरानी एवं पार्शियन देवी–देवताओं की आकृतियों से होती है[8]।

कुषाण सिक्के तौल में 121 ग्रेन, उसके दूगने या आधे तौल में तैयार होते रहें। कनिष्क के द्वारा प्रचलित सिक्कों की भी यही तौल थी[9]। कनिंघम तथा अन्य विद्वानों ने कनिष्क प्रथम की मुद्राओं के वर्गीकरण का प्रयास किया। प्रथम वर्ग के अंतर्गत स्वर्ण मुद्राओं तथा द्वितीय वर्ग में ताम्र मुद्राओं को रखा[10]।

कनिष्क प्रथम द्वारा प्रचलित स्वर्ण मुद्राओं पर ईरानी प्रभाव अधिक परिलक्षित होती है। इन मुद्राओं पर कनिष्क की आकृति 'ईरानी वेश' में उत्त्कीर्ण है जिसमें लम्बा कोट, पायजामा तथा लम्बी टोपी दीख पड़ती है। राजा अग्निकुण्ड में हविष डालते दिखाया गया है। स्वर्ण सिक्कों पर ईरानी उपाधि के साथ राजा का नाम भी अंकित है[11]।

कनिष्क प्रथम द्वारा प्रचलित ईरानी प्रभाव से ओत–प्रोत सिक्कों की चर्चा हम विस्तारपूर्वक इस प्रकार से कर रहे है:–

वेदी और देव प्रकार–

वेदी और देव प्रकार के सिक्के के अग्रभाग पर राजा बायीं ओर खड़ा है। वह शिरस्त्राण, मुकुट, ईरानी ढंग का लम्बा कोट, पायजामा, टोपी तथा जूता पहने हुए है। दाहिने हाथ से वेदी पर आहुति दे रहे हैं। उनके कन्धों से लपटें निकल रही है। वह बायें हाथ में भाला पकड़े हुए है। ग्रीक लिपि और भाषा में लेख 'वैसिलियस बैसिलियान कनेष्को' उत्त्कीण है। इसी तरह अधिकांश सिक्को पर ग्रीक लिपि और शक भाषा में लेख 'शाओनानो शाओ कनेष्की कोशानो' उत्त्कीर्ण मिलते है[12]।

अरदोक्षो प्रकार

अरदोक्षो प्रकार के सिक्को के पृष्ठ भाग पर उत्त्कीर्ण देवी कि समता विद्धानों ने ईरानी भाग्यदेवी तथा भारतीय लक्ष्मीदेवी से करने का प्रयास किया है। ग्रीक लेख 'अरदोक्षो', दाहिनी ओर स्त्री आकृति खड़ी है, देवी की आकृति वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है, बायें हाथ में कार्नुकोपिया और दाहिने हाथ में पाश धारण किये है[13]।

अथसो प्रकार

अथसो प्रकार के सिक्के के पृष्ठभाग पर अंकित दाढ़ीयुक्त देव के तुलना विद्धानों ने ईरानी अग्निदेव से करने का प्रयास किया है। बायीं ओर एक दाढ़ीयुक्त

देव की आकृति खड़ी है, मुकुट युक्त, दाहिने हाथ में माला और बायें हाथ में टाँग्स पकड़े हुए जो जाँच पर स्थित है। बायीं ओर कदफिस अंकित है, तथा ग्रीक लेख 'अथसो' उत्त्कीर्ण है[14]।

लुह्रस्प प्रकार

लुह्रस्प प्रकार के सिक्के के पृष्ठभाग पर उत्त्कीर्ण देवता की आकृति की तुलना विद्धानों ने ईरानी प्रकाश देवता से करने का प्रयास किया है। ग्रीक लेख 'लूरस्पो' मुकुट पहने हुए, दाहिनी ओर खड़ी दाढ़ीयुक्त देव की आकृति है, दाहिने हाथ में माला धारण किए हुए है और बायीं ओर कदफिस चिन्ह अंकित है। देव के निकट घोड़े की आकृति भी लक्षित होती है[15]।

मिहिर प्रकार

मिहिर प्रकार के सिक्कों पर अंकित देव की समता विद्धानों ने ईरानी सूर्य–देव मिथ से करने का प्रयास किया हैं। ग्रीक लेख में 'मेइपो' उत्त्कीर्ण है, देव बायीं ओर खड़े है। देवता की आकृति आभा–मण्डलयुक्त है, मुकुटमय, दाहिना हाथ में राजदण्ड धारण किए हुए है, और कमर में तलवार, कदफिस चिन्ह अंकित है। इस प्रकार के सिक्कों को दो वर्गों में बाँटा गया है। दूसरे वर्ग के सिक्के में ग्रीक लेख 'मीपो' बायीं ओर खड़ी देवाकृति, दाहिना हाथ आगे की ओर बढ़ा हुआ तथा बायाँ जाँघ पर स्थित है। तलवार कमर में बंधी है, और कदफिस चिन्ह अंकित है[16]।

इन सब सिक्कों के अतिरिक्त कनिष्क प्रथम के द्धारा अन्य बहुत से प्रकार के सिक्के है। जिनमें मनोबगो प्रकार, हिफेस्ट प्रकार, बोदो प्रकार जो बौद्धधर्म से संबंधित है, ओरलग्नों प्रकार जो पार्शियन युद्ध–देव एवं फर्रो प्रकार जो पार्शियन अग्निदेव से संबंधित है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते है कि कनिष्क प्रथम के काल में प्रचलित सिक्के भारतीय इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। कनिष्क ने हिन्दू, बौद्ध, ग्रीक, ईरानी एवं पार्शियन आदि देवी–देवताओं के चित्रों को अपने सिक्कों पर अंकित कर अपने धर्म–सहिष्णुता का परिचय दिया। कनिष्क के स्वर्ण सिक्कों पर ईरानी प्रभाव अधिक परिलक्षित होते है। जिनके कई प्रकार जैसे अथसो, अरदोक्षो, लुहस्प, मिहिर आदि सिक्कों के उदाहरण हमारे समक्ष उपलब्ध है। ये सिक्के कला कि दृष्टि से प्राचीन भारतीय सिक्कों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसके साथ ही ये सिक्के तत्त्कालीन वैदेशिक संबंधो के उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. ओझा, रामप्रकाश; प्राचीन सिक्के, पृ0–2
2. ई0 थामस; एन्शियेन्ट इण्डियन वेट, पृ0–34
3. भण्डाकर, डी0 आर0; लेक्चर्स आन एन्शियेन्ट इण्डियन न्युमिस्मेटिक,1921
4. दास, ए0 सी0; ऋग्वेदिक इण्डिया, पृ0–140, 1925
5. उपाध्याय, डॉ0 वासुदेव; प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, पृ0–9
6. वहीं, पृ0–43
7. चौधरी, राधकृष्ण; प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ0–198
8. उपाध्याय, डॉ0 वासुदेव; प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, पृ0–107
9. वहीं
10. पाण्डेय, डॉ0 विमलेश कुमार; भारतीय पुरातत्त्व के मूल तत्त्व, पृ0–68
11. उपाध्याय, डॉ0 वासुदेव; प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, पृ0–107
12. ओझा, रामप्रकाश; प्राचीन सिक्के, पृ0–64
13. वहीं, पृ0–65
14. वहीं, पृ0–64
15. ओझा, रामप्रकाश; प्राचीन सिक्के, पृ0–64
16. वहीं

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सुद्धम्मदेसना।
सुख संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो।।

सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सच्चे धर्मका उपदेश, संघ में एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकत्रायुक्त हो तप करना।

बौद्ध-धर्म का भारतीय संस्कृति में योगदान

मेधावी कृष्णा, शोध छात्र, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

छठी शताब्दी ई. पूर्व का समय भारत के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इस समय उत्तर भारत में बौद्ध का उदय हुआ। बहुत दुर्भाग्य की बात है जहाँ बौद्ध धर्म का उदय स्थान है वहीं पर बौद्ध धर्म का विलोप एक दुखद घटना है। बौद्ध धर्म का ह्रास भारत से अवश्य हुआ परन्तु भारतीय संस्कृति पर बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण और अत्यधिक प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वान चिन्तकों का कहना है कि बौद्ध–धर्म निराशावादी धर्म है क्योंकि इस धर्म में मुख्य रूप से दुःख की बात की गयी है, परन्तु बौद्ध धर्म निराशावादी धर्म नहीं वरन् दुःखी जीवन के कारणों को जानना और उसका निरोध करके सुखी जीवन का मार्ग प्रशस्त कर शान्ति स्थापित करता है।

विश्व के सभी प्रमुख धर्म ईसाई, इस्लाम, पारसी, ब्राह्मण आदि के अपने पवित्र ग्रंथ उनकी पवित्र और विशिष्ट भाषा में है पर बौद्ध धर्म में ऐसी कोई बात नहीं है, इनकी भाषा तो जनभाषा थी जिससे साधारण से साधारण को समझने में कोई समस्या न हो। एक बार तो गौतम बुद्ध से एक ब्राह्मण शिष्य ने पूछा कि वे संस्कृत में उपदेश क्यों नहीं देते? तो भगवान बुद्ध ने उत्तर दिया ''मैं गरीबों की भाषा द्वारा गरीबों तक पहुँचना चाहता हूँ। ऐसा विवरण बौद्ध साहित्य में मिलता है।

गौतम बुद्ध के लोकभाषा के प्रयोग और उनकी शिष्यों द्वारा क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग से भारत के सभी क्षेत्रों में जनभाषा को प्रोत्साहन मिला, जिससे क्षेत्रीय भाषाओं के विकास एवं प्रचार संरक्षण का एक नवीन मार्ग प्रशस्त हुआ।

गौतम बुद्ध ने अपने उपदेशों व सिद्धान्तों को जन–जन तक पहुँचाने के लिए उस समय की लोकभाषा का प्रयोग किया। उनके त्रिपिटक तो भारत के उस क्षेत्र की भाषा में आता है जहाँ बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इस प्रकार भगवान बुद्ध जन–मानस को ध्यान में रखते हुए जन–साधारण भाषा में अपने उपदेशों की देशना किये।

बौद्ध धर्म का साहित्यिक क्षेत्र में विशिष्ट परिवर्तन हुआ। ब्राह्मण परम्परा के वेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् को स्वीकार किया गया एवं उसे क्रमबद्ध ढंग से लिखा गया।

वैदिक ऋचाओं का विषय भगवान की पूजा अर्थात देवपुजा मात्र था एवं परवर्ती उत्तर वैदिक साहित्य यज्ञ और कर्मकाण्डों से भरा पड़ा था, पर बौद्ध धर्म इन विषयों से अलग व्यवहारिक विषय को अपना माध्यम बना के त्रिपिटक साहित्य या बौद्ध साहित्य को लिखा गया।

गौतम बुद्ध ने थेर–थेरी गाथाओं, जातक कथाओं और पिटकों के माध्यम से व्यवहारिक एवं लौकिक विषयों को अपनी वार्ता का विषय बनाया और अपने उपदेशों की देशना किये।

बौद्ध साहित्य में बुद्धवंश, दीपवंश एवं महावंश के ऐतिहासिक वंश परम्परा और महान बौद्ध आचार्यों द्वारा वर्णित धर्म ग्रन्थ जैसे– आचार्य अश्वघोष द्वारा रचित 'बुद्धचरित' जिसे बौद्ध रामायण की भी संज्ञा दी जाती है, इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष द्वारा रचित 'विशुद्धिमग्ग' भी बौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। बौद्ध धर्म के गीता कहे जाने वाले ग्रन्थ धम्मपद में 26 वग्गों में लौकिक विषय और व्यवहारिकता आचार नियम का प्रमाण मिलता है।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य के त्रिपिटक विनय पिटक, सुत्तपिटक, एवं अभिधम्मपिटक में वर्णित विषय नियम, दार्शनिक सिद्धान्त, आचारशास्त्र, नैतिकता, व्यवहारिकता, सामंजस्यता आदि विषयों का समान्तर ब्राह्मण व जैन साहित्य में भी समावेश प्रारम्भ हुआ। ईसा की छठी शताब्दी तक की भारत के सर्वश्रेष्ठ कलाओं में बौद्ध कला का स्थान प्रमुख माना जाता है।

सिन्धु घाटी के अवशेष एवं वैदिक व माहाकाव्य साहित्य के साक्ष्यों के अतिरिक्त देखा जाय तो प्राचीनतम श्रेष्ठतम कला में बौद्ध–कला का स्थान सबसे उपर है। भारत से बाहर वर्मा, चीन, जापान,

लंका, स्याम, एवं जावाँ आदि देशों में बौद्ध कला के अवशेष मिलते हैं। बौद्ध कला में पशु, प्राणी एवं वनस्पति का चित्रण एवं यक्ष–यक्षिणियों के रूप में उपलब्ध साक्ष्य प्राप्त हुआ। सर्वश्रेष्ठ बौद्ध कला का विकास अशोक के काल में हुआ, जो राजप्रश्रय में बनी थी। इसमें पशु, वनस्पति जगत की अधिक प्रधानता रही पर अशोक के बाद बौद्ध कला राजबंधन मुक्त हुइ। बौद्ध जनों एवं उपासकों ने धार्मिक उत्साह के साथ लोककला अर्थात् बौद्ध कला को बढ़ाया एवं उपस्थित यक्ष–यक्षिणियों से प्रेरणा ली।

इस काल में बौद्ध–कला का सबसे बड़ा परिवर्तन कलावस्तु के प्रयोग का था क्योंकि बौद्ध काल में प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि 'काष्ठ' विशेषकर चंदन का प्रयोग बौद्ध स्तूपों की काष्ठ वेदिकाओं में देखने को मिलता है। शायद काष्ठ कला बौद्ध–कला से पूर्व ही प्रचलित रहा होगा, पर बौद्ध कला में इसका प्रयोग सर्वाधिक देखने को मिलता है। अतः सर्वप्रथम काष्ठ का प्रयोग बौद्ध कला से प्रारम्भ हुआ। कुषाण साम्राज्य के आने के बाद बौद्ध के सांस्कृतिक पक्ष को और सही ढंग से विकास का अवसर मिला जिससे भारतीय संस्कृति में और समृद्धि हुई तथा ये भारतीय सीमाओं को लांघकर पूरे एशिया में फैल गया। भारत में मथुरा, सारनाथ, अमरावती, अजन्ता, ऐलोरा बौद्ध–कला के प्रमुख स्थान माने जाते हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि बौद्ध कला–अवशेषों एवं साहित्य से प्रेरणा ले कर भारतीय कला एवं संस्कृति के हर विभाग को प्रभावित किया।

बौद्ध धर्म के उदय से भारत में एक नवीन दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ हुआ। बौद्ध–धर्म के प्रारम्भ काल में इसके अनेक परस्पर विरोधी दार्शनिक थे।

बौद्ध–दर्शन में अनात्मवाद का सिद्धान्त पूरे भारतीय दर्शन के विद्वान को झकझोर के रख दिया, क्योंकि भारतीय दर्शन की चिन्तन की दो धारायें थी– उपनिषदों का आत्मवाद तो दूसरा गौतम बुद्ध का अनात्मवाद। इसलिए उपनिषद और वेद को प्रमाण मानने वाले आस्तिक और इसे न माने वाले को नास्तिक दर्शन की संज्ञा दिया गया। क्षणभंगवाद, अनात्मवाद से प्रारम्भ दर्शन सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के माध्यम से भारतीय चिन्तन की दोनों धाराओं आदर्शवाद व यथार्थवाद को प्रभावित करता है।

बौद्ध दार्शनिक अश्वघोष, असंग, वसुमित्र दिङ्गनाग, धर्मकीर्ति नागार्जुन आदि बुद्ध के सिद्धान्तों को तो आगे बढ़ाया ही साथ ही अपने समकालीन दर्शन जैन, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय–वैशेषिक तथा वेदान्त दार्शनिकों की उनके अपने–अपने क्षेत्र में प्रभावित किया। तात्पर्य है कि भारतीय दर्शन के तर्कशास्त्र न्याय की कोई भी शाखा नहीं जो बौद्ध दर्शन से प्रभावित न हुआ हो। शकराचार्य कृत वेदान्त दश्नन की अतीव समानता को देख कर कुछ विद्वान शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त भारतीय और पाश्चात्य दर्शन एवं संस्कृति पर प्रभाव डालते हैं।

जिस समय गौतम बुद्ध को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुआ था, उस समय भारत में किसी धर्मोपदेश के लिए तत्त्व चिंतन जैसे अनिवार्यता बन गयी थी। पर गौतम बुद्ध ने ब्रह्म, आत्मा जैसे प्रश्नों के उत्तर में अशक्त रह गये उन्होंने दार्शनिक वितण्डवाद से परे नैतिक आचार का उपदेश दिया था। उनकी शिक्षाओं में आर्य सत्य के अष्टांगिक मार्ग की तरफ अधिक झुकाव रहा। उनका धारणा थी कि दार्शनिक सिद्धान्तों जैसे सत्–असत्, शाश्वतवाद आदि विषयों में दार्शनिकों में परस्पर विरोध हो सकता है पर आचार शास्त्र के नैतिक नियमों में किसी का भी विरोध नहीं हो सकता है। इसलिए गौतम बुद्ध ने जनमानस के लिये आचार नियम और नैतिकता का उपदेश दिया। बौद्ध के आचार नियम के कारण उनके समसामयिक चिंतकों में एक सरलता और नैतिकता की तरफ झुकाव बढ़ा। इस झुकाव के कारण बौद्ध धर्म के दस शीलों का अन्य धार्मिक और दार्शनिक चिंतकों पर नैतिकता के प्रति विकास होना प्रारम्भ हो गया।

संभवतः इसी आदर्श से प्रेरित होकर कबीर, दादू, गुरुनानक, रैदास आधुनिक युग में दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि ने जनमानस में हिंसा, व्यभिचार आदि को छोड़कर नैतिकता और आचारशास्त्र पर बल दिया।

गौतमबुद्ध ने संन्यास आश्रम के आदर्श को ब्राह्मण धर्म के चिन्तन धारणाओं से लिया पर उसे उन्होंने अपने व्यक्तिगत आदर्शों से संगठित किया।

इस आश्रम व्यवस्था का बौद्ध–धर्म में शिक्षा ग्रहण करने वाले भिक्षु–भिक्षुणियों को 'विहार एवं मठ' में जा के विनयपिटक में बताये गये नैतिक नियमों के अनुसार शिक्षा का अनुपालन करना पड़ता था। मठ और विहार में सर्वप्रथम भिक्षुओं के प्रवेश पर प्रवज्जा संस्कार किया जाता फिर प्रतिदिन संध्या वंदना आदि नियमों का अनुपालन कर शिक्षा ग्रहण करने की प्रथा थी। भिक्षुओं को त्रिपिटक में बताये गये दश शीलों का कठोरता से पालन करना होता था, पर गृहस्थों को इन नियम में कुछ सरलता दिया गया था।

बौद्ध धर्म काल में कई मठ एवं विहारों की स्थापना हुई, इलियट महोदय का कहना था कि श्रृंगेरी मठ की स्थापना भी बौद्ध विहार के अवशेष पर हुई है। तात्पर्य यह कि ब्राह्मण व आधुनिक युग में बचे मठों की स्थापना बौद्ध विहारों की प्ररेणा से की गयी। इस प्रकार बौद्ध विहरों और मठों के प्रभाव को कम नहीं किया जा सकता, इन्होंने भारत को मठ के रूप में एक ऐसी संस्था प्रदान की जो अच्छे या बुरे रूप में आज हिन्दू संस्कृति के दीप–स्तम्भ का काम करती है।

गौतम बुद्ध ने यज्ञों का विरोध किया क्योंकि उसमें पशुओं की बलि चढ़ाने की प्रथा थी। बुद्ध ने अपने शिष्यों को मांसाहार का निषेध करने को कहा क्योंकि उसमें जीव हिंसा होती है, पर बाद में विकोटिपरिशुद्ध नियम के अनुसार मांसाहार करने का भी आज्ञा दिया गया। यह बताता है कि कई मायने में बौद्ध धर्म को एक व्यवहारिकता भी प्रदान किया गया।

बौद्ध धर्म के आचार का सारतत्त्व यह था कि जीवन के प्रति सम्मान, जीवों पर दया, उत्तरदायित्व का भाव, जीवन के लिए प्रयास आदि। राधाकृष्ण कहते हैं कि बौद्ध–धर्म के प्रभाव में हिन्दु–धर्म ने अपने आचार के उन सब तत्त्वों को त्याग कर दिया जो कि तर्क एवं मानवता से मेल नहीं थे। ये आचार नियम न केवल हिन्दू धर्म में व्याप्त है बल्कि कहीं न कहीं इन नियमों का पालन ईसाई, इस्लाम और सभी धर्मों में किया जाता है।

इस तरह बौद्ध धर्म भारत ही नहीं वरन् विश्वस्तर पर एक विश्व धर्म के रूप में प्रसिद्ध हुआ, और भारत के निर्माण एवं विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रचार का उत्साहवर्धक श्रेय बौद्ध–धर्म और उसके प्रचार को ही दिया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म का आज वर्तमान युग में भी बहुत प्रभाव है, जिस कारण आज भी मानवता, नैतिकता जनमानस में विद्यमान है।

संदर्भ

1. Majumdar, R.C. ed. , The History and Culture of the Indian People.
2. Dr. Satyanarayan Duby, Bouddh and Jain Dharma Tatha Darshan
3. Gupta, S.P., The Roots of Indian Art
4. Dr. Shankta Prasad, Bouddh Dharma and Jain Dharma
5. Dr. Govind Chandra Pandey, Bouddh Dharm ke Vikash ka Itihas
6. Acharya Baldev Upadhaya, Bouddh Darshan Mimansha
7. A. L. Basham, Incredible India

आपके पास जो कुछ भी है,

उसे बढ़ा-चढ़ा कर मत बताइए,

और ना ही दूसरों से ईर्ष्या कीजिये।

जो दूसरों से ईर्ष्या करता है उसे मन की शांति नहीं मिलती

भगवान गौतम बुद्ध

Lifecycle of butterfly and true nature of things

Dr. Amita Kapoor, Associate Professor, SRCASW, University of Delhi
Narotam Singh, Department of Buddhist Studies, University of Delhi, India.

Introduction

Evolution of cocoon to a beautiful butterfly, the process of metamorphosis has close analogy to the evolution of human, from being a Human to evolving to a Bodhisattva, Buddha, the enlightened one. There is one stark difference though, most larvae, which form pupa, do evolve into butterflies, but not all human beings who take birth evolve into a Buddha, the perfect awakened one. *Śhakyamuni* Buddha in many of his sermons have said that all of us have the capability to be Buddha, attain *nibbanā*[1], we all are supposed to have this innate potential but for ***certain*** reasons most of us do not attain it, instead we stay grasped in the claws of *Mārā* and continue the endless cycle of life, death and miseries. In this article, we closely investigate this analogy, and explore the reasons why we are not able to fulfill our innate potential. In this article, the first section briefly defines the process of metamorphosis, the second section describes the true nature of things as illustrated by *Śhakyamuni* Buddha in *Tipitaka*. In the third section we explain the similarity between evolution of human and butterfly, the fourth section elaborates upon the reason for this, and finally we conclude in the article that each one of us have to go deep inside oneself, understand the true nature of things to be able to live to our full potential.

Metamorphosis

The evolution of cocoon to a beautiful butterfly is something we all study in elementary class. We are taught that butterfly has four stages of development; the entire process can take anything from few weeks to a year depending upon the exact species. The cycle starts with a female butterfly laying eggs on leaves. In about four-five days tiny worm like things come out from the eggs, they are called caterpillar or larvae. Caterpillar is like an eating machine; it eats whatever it finds and grows manifolds. This stage lasts typically for three-five weeks. It is the most dangerous stage in the life of butterfly, because very few caterpillars survive this stage. The third stage is the pupa stage or Chrysalis stage, here the caterpillars settles itself in a safe place and spins string of silk all around itself forming a cocoon. Pupa stays in cocoon for about four-five weeks, to those outside it might seem as a time of rest, but that is not true, a lot is happening inside. It generates a fluid, which dissolves its outer body slowly; at the same time it generates new cells called "imaginal" cells, which can differentiate to any form. Eventually, it has to make the decision to emerge out as a beautiful butterfly, if it does not make this decision it will die.

The three marks of existence: True nature of things

Once upon a time, while residing in Jētvana forest, Lord Buddha, on being asked by 500 monks about subject of meditation for obtaining nibbāna, told [Dhammpada verses 277-279] them

sabbē snakhārā aniccā iti yadā paññāya passati
atha dukkhē nibbindati ēsa visuddhiyā maggā
sabbē snakhārā dukhā iti yadā paññāya passati
atha dukkhē nibbindati ēsa visuddhiyā maggā
sabbē dhammā anattā iti yadā paññāya passati
atha dukkhē nibbindati ēsa visuddhiyā maggā

Translated as, "All conditioned things (*sankhārā*) are impermanent (*aniccā*), if this is understood through insight (*paññāya passati)* then one is free from sufferings, this is the path to complete freedom from all defilements. All conditioned things (*sankhārā*) are source of sufferings (*dukhē*), if this is understood through insight (*paññāya passati)* then one is free from sufferings, this is the path to complete freedom from all defilements. All things conditioned and unconditioned (*Dhamma*) are non-self, if this is understood through insight (*paññāya passati)* then one is free from sufferings, this is the path to complete freedom from all defilements." These three verses contain the reference to the three marks of

existence (*Tilakkhan*):

Sabbē sankhārā aniccā All conditioned things are impermanent
Sabbē sankhārā dukhā All conditioned things bring suffering
Sabbē dhammā anattā All conditioned and unconditioned things are without a self

In essence, these three marks of existence summarize the world around us. Moreover, it is not sufficient to just know them, Buddha emphasizes that one needs to understand them through proper insight for freedom from sufferings and defilements/ blemishes.

Evolution of human vs evolution of butterfly

Humans similar to butterflies also have four stages. The first stage starts from the time of conception to the time they take birth. The second stage is the period when human beings grow from being a vulnerable newborn child to an adult. This stage is the most crucial stage of their lives. This stage is also very dangerous; the mortality rate is very high in these years. And just like the larvae most of the time of these years they spend in playing, learning, eating, and grow manifold.

In the third stage of human lives they build a safe secure cocoon for themselves, they start a job, get married, and try to surround self with things that make them feel happy, secure, and safe. And here, the analogy ends, while the pupa undergoes metamorphosis, humans rarely take this plunge. The remainders of their lives are consumed in building better beautiful homes, making more money, more contacts, reproduce for better progeny, in essence making building and sustaining the cocoon called society. In the process human beings rarely become aware of the reality, the true nature of things, instead they stay safely and securely in their self-made cocoon for all their lives. They continue to take birth, get old and die; this circle of life, death, and miseries, the cycle of *Samsāra* continues for eons. This cocoon is an elaborate cocoon, consisting of expectations, desires, and fears.

Defilements: Anchor in *Samsāra*

The question naturally arises, why most human beings prefer to stay in the cocoon, why they are not able to reach their full potential and attain *nibbanā* in this lifetime itself. We explore the answer to this question through the understanding of evolutionary and social psychology, these explanations are further strengthened by the description of type of persons in *Anguttara Nikāya* and detailed description of *icchantikas* by Buddha in *Mahaparinirvāna Suttā.*

The field of evolutionary psychology is a recent field, which attempts to comprehend human mental faculties in the light of the evolutionary processes that shaped them. According to evolutionary psychology, the process of natural selection, engineered beings in a way that they struggle to stay alive and replicate, in other words maintain their continuous existence on the earth in the forms of DNA (genes). The Nature enforces this by rewarding beings with short-term rewards (pleasures) when the goal is fulfilled. These rewards pleasures are for short duration to ensure that being persistently works to achieve them. Thus, for continued fulfillment of natural goals of survival and replication, the Nature ensures that:

- Beings feel the pleasure on attainment of goals,
- These pleasures are for short duration, and
- Beings have their whole focus on achieving pleasures and not on the short duration of pleasures.

Hence, beings are always unsatisfied, they experience pleasure after achievement of a goal, but the pleasure is short lived. Thus, beings not knowing (ignorance, *avijjā*) that pleasures have short duration spend most of their lives in constant pursue of pleasures, with the belief that once they have all the pleasures they will live happily ever after. If a being is freed from the cocoon, then that being will attain *nibbanā* and will be out from the cycle of life, death and miseries, it is a rebellion against the goals of nature. And the Nature like any ruler, tries to ensure by weaving a web of *avijjā*, that beings never rebel against it and stay in its grasp.

Lifecycle of butterfly and true nature of things

Social psychology also tells us that human being is basically a social animal; they seek pleasure and comfort in the company of others. The human being enjoys in sharing joy, making others laugh with self, making others jealous of self and so on. They dress for others; they continuously stay in competition with others. They measure their lives, their happiness, and their success through the eyes of others. And once, they have formed a cocoon of pleasures and luxuries around self, the comfort they get from it, acts like a binding force. This force sojourns human beings from even thinking about coming out from the cocoon. This cocoon of innumerable defilements keeps human beings anchored, and they repeat the cycle of life, death and miseries repeatedly.

Majority of human population is not able to even attain the path to freedom from sufferings because the many distractions of the outside world attracts them. With the evasive spread of Internet and mobile technology humans are not alone even in their bedrooms. These distractions keep them away from even thinking about the true reality of things, so the question of gaining understanding or insight does not even arise. For growth and the great metamorphosis, cocoon is needed, but while butterfly cocoon performs dual function of destroying the existing, and creating the new. Human's social cocoon is presently expansive in nature. As the first step, it is required that human beings use cocoon for self-inspection, self-introspection as well. Thus, every human being should spend sometime with self. This 'alone-time' can give courage to take the first steps in gaining the understanding of the true nature of things, the understanding of the fact that all (conditioned) things of the world are impermanent, transient, they are ever changing; and the comfort one feels in known, secure, safe surroundings will eventually perish because things will anyway change. This 'alone-time' can help in gaining the understanding of the fact that all (conditioned) things of world are source of suffering, every short pleasure is followed by long duration of sufferings. This 'alone-time' can help in gaining the understanding that nothing (conditioned and unconditioned) in this world belongs to self, the house moves from one owner to another, the money exchanges from one hand to other, the characteristics of all is non-self. Once, this understanding is gained only then can person work on getting free from sufferings and towards attaining *nibbāna*.

Thus, to emerge as a butterfly, pupa has to destroy its existing self (in case of humans, ignorance has to be destroyed), make place for the new self (for humans, knowledge of true nature of things has to be acquired) and finally take the plunge to come out of the cocoon (in case of humans the cocoon of elaborations is dissolved).

Conclusion

In this article we presented consonance between the evolution of a butterfly and that of a human being. We saw both have four stages of development. In the first stage, butterfly exists as an egg, and human being exist as a fetus inside a mother's womb. In the second stage, butterflies exists as caterpillar and grow manifold, human being as a child spends this stage in learning, playing and also grows manifold. The third stage of butterfly is the one where it forms a cocoon around self, human too in the third stage builds a cocoon around self, but while butterfly cocoon is made of silk fiber, human cocoon is made of pleasures, luxuries, status, and relationships. Almost all pupa in cocoon metamorphose into big beautiful butterflies, very rare we find a human being emerge out of the cocoon and acclaim his full potential of being enlightened, be a Buddha. We learn that this is so because human beings are in ignorance, they do not realize that the pleasures are short-lived, they are afraid of coming out of the secure, safe comfortable cocoon, and they are inflicted by many mental defilements. We finally conclude that for humans to be able to achieve *nibbāna*, they need to spend 'alone-time' in a self-cocoon, a cocoon where they are alone with self, and do introspection. This will give human courage to take the plunge and start the journey towards Buddhahood. This is the only way every human may be able to realize their full potential and achieve Buddhahood.

Reference:

1. Nibbāna Suttā

An Evaluation of the Concept of Prajñā-pāramitā in Buddhism

Nguyen Van Nhut, Research Scholar, Department of Buddhist Studies, Delhi University

Introduction

Buddhism is regarded as a kindly compassion and scientific tradition, compassionating with the world a noble path for realization of the reality of life and solution for problems of the world. Along with the compassion, a system of thought (wisdom – a noble path), one of the most significant features that any tradition in the world should possess is very essential, especially in such a scientific and modern world. Buddhism definitely, appears to possess completely the two vital and particular features, like one of famous quotations of distinguishes scientist at first half of twenty century – Albert Einstein mentioned by Donald S. Jr. Lopez as follows:

'The religion of the future will be a cosmic religion. It should transcend a personal God and avoid dogmas and theology. Covering both the nature and the spiritual, it should be based on a religious sense arising from the experience of all things, natural and spiritual as a meaningful unity. If there is any religion that would cope with modern scientific needs it would be Buddhism ...' (Lopez 2008: 1)

According to many sūtras of Mahāyāna tradition, particularly Lotus sūtra (*Saddharma-pundarīka*) mentions that the ultimate goal or the main reason for all Buddhas have appeared from past to present time to the world is to open or show 'the perfect wisdom of Buddha' of all human beings. In addition, the term '*prajñāpāramitā'* is named to one of the most important sūtras appeared around 2nd century B.C, and collaborated completely at the end of 2nd century A.D, is *Prajñāpāramitā* sūtra (Perfection of Wisdom).

Furthermore, the term *prajñāpāramitā* (*paññā-pāramī* in Pāli) in Early Buddhism is defined as the tenth stage of the ten *pāramīs*, from which an Arhat has cultivated and experienced before entering into the path of Buddhahood. Besides, *prajñāpāramitā* is esteemed as the sixth stage of the Bodhisattva's path in later Buddhism, corresponding to the ten levels of attainment in *Avatamsaka* sūtra in Mahāyāna Buddhism.

It is above mentioned, the concept of *prajñāpāramitā* has been spent various stages in its process and development through definite time. It thus, is very necessary and exciting to examine the process and development of the concept of *prajñāpāramitā* in various ways of understanding in significant period of Buddhism.

Terminology of the *prajñā-pāramitā*

The Pāli word *pāramī* derives from *pārama*, 'supreme,' or 'extremity' because of the binding of two words; *pāra+ma,* adherently the term of *pāra* with meaning 'other side', 'utmost reach or fullest extent' or 'end or limit of anything' and the suffix '*ma'* for formation of superlative form. Thus it suggests the eminence of the qualities which must be fulfilled by a bodhisattva in the long course of his spiritual development. But the cognate *pāramitā*, the word preferred by the Mahāyāna texts and also used by Pāli writers, is sometimes explained as *pāra* + *mitā*, 'gone to the beyond,' thereby indicating the transcendental direction of these qualities.

In Buddhism, the term of *pāramitās* or *pāramīs* in general refer to the perfection or culmination of certain virtues. Adherently, these virtues are cultivated as the way of purification, purifying karma and helping the aspirant to live an unobstructed life, while reaching the goal of enlightenment.

The pāramitās are so called, because they are acquired during a long period of time, and are supremely pure in their nature. They also transcend the virtues or qualities of Śrāvakas and the Pratyeka-Buddhas, and lead to the highest result (Dayal 1999: 166).

Relating to the above meaning, in Pāli canon, *Majjhima* Nikāya, the Buddha so many times had concerned about the term 'go beyond, have gone beyond, or having crossed over' when he uttered to

his disciples about the Arhanthood as follows:

Monks, like unto those bulls who were the sires and leaders of the herd and who, having cut across the stream of the Ganges, went safely beyond, are those monks who are Arahants, the outflows extinguished, who have lived the life, done what was to be done, laid down the burden, attained their own goal, the fetters of becoming utterly extinguished, freed by perfect gnosis. For these, having cut cross Mara's stream, have gone safely beyond (Horner 2004: 225-26).

Furthermore, in *Samyutta Nikāya*, when talking about the characteristic of the Arahant, the Buddha uses a synonym for the Arahant is 'the Brahmin who, crossed over, gone beyond, stands on dry land' (Woodward 2005: 175).

Position of the *Prajñā-pāramitā* in Early Significant Buddhist Doctrine

The primary message of the Buddha points out to people is the way of life that leads beyond suffering. At initial time, the Buddha is considered as an ethical teacher and reformer other than a philosopher because he always avoids discussing about any metaphysical question, which does not lead to the ultimate goal of life – the state of freedom from all sufferings.

Instead of discussing or replying metaphysical questions, the Buddha tries to enlighten people on the most important questions of life's problems such as sorrow, its origin, its cessation and the path leading to its cessation. It thus has come to be known as the four Noble truths (*catvāri ārya satyāni*).

The *Prajñāpāramitā* is part of the third Truth on 'cessation of *dukkha'* in the Four Noble Truths, and the final destination of the Noble Eightfold Path also. It is hold that ignorance (*avidyā*) of realities is the cause of our bondage and sufferings, and liberation from these can only be achieved by only by the 'worthy ones', who have attained *nirvana* (Warder 1999: 67). The liberation or *nirvāna* (also called as *mukti* or *moks a*) actually means the stoppage of the process of birth and rebirth or gone beyond to the opposite site of suffering – the state of bliss, happiness.

Therefore, the Third Noble Truth or the cessation of all suffering regarded as *nirvā□a*, is called as *prajñāpāramitā* – the state of liberation, happiness, the state of 'perfect wisdom'.

Two Concepts of Dharma in Early Buddhism and Two Truths in *Abhidharma*

It is noted that *dharma* is regarded as the most basic concept in Buddhism. Accordingly, the Buddha, the enlightened one attained enlightenment by understanding *dharmas*, of which the world and its inhabitants are composed, as a result, the term *dharma* refers to not only the Buddha's teachings but to the true nature of human existence.

In early Buddhism, relating to the term dharma, there is only one *paramārtha dharma* (unconditioned or ultimate dharma), namely *nirvā□a* is recognized also as the *prajñā-pāramitā*. And all the rest are regarded as *samskrta dharmas* (conditioned *dharmas*).

Furthermore, in Abhidharma particularly Sarvāstivādin, the term *dharma*, recognized as the existence of body, mind, external world, etc. is grouped into two kinds of truths. These are Conventional Truth (*samvrti sat*) and Ultimate Truth (*paramārtha sat*), according to which only three categories of things, namely, analytical cessation (*pratisankhya - nirodha*), non-analytical cessation (*apratisankhya - nirodha*) and space (*akaśa*) are classed as the Ultimate Truths.

However, according to Abhidhamma in Sthaviravādin, the Ultimate Truth is classified into four categories, namely, *citta* (mind), *cetasika* (mental factors, associated mentality), *rūpa* (physical or material form), and *nibbāna* (extinction, cessation).

Although the Ultimate Truth is classified into three or four categories, *pratisankhya – nirodha* and *nibbāna* is recognized as the concept of *prajñā-pāramitā*.

Bodhisattva's idea: Ten *pāramīs* in early Buddhism or six *pāramitās* in later Buddhism

The concept of Bodhisattva is found in the earliest stratum of *Tripitaka* texts ((Warder 1999: 338), as referring to the Buddha before his enlightenment, and also to other Buddhas before their

enlightenments. In Pāli sources, there are ten perfect qualities a Bodhisattva must perform perfectly during his/her previous lives, which leads to Buddhahood occur frequently in the *Jātaka.*

In Mahāyāna, the earliest sūtras appear to be a collection relating to the concept of Boddhisattva called the *Ratnakūta*, a great sūtra containing forty-nine independent chapters. In addition, it is important to note that the sūtra also refers to the basic doctrine of the six 'perfections' (*pāramitā*). The six perfections are: generosity, virtue, toleration, energy, meditation and wisdom that the bodhisattva must perfect all during his/her countless lives mentioned as in many *Jātakas*.

Furthermore, ten *pāramīs* in early Buddhism or six *pāramitās* in later Buddhism are also regarded as 'transcendental perfections of quality' mentioned by D. Keown (2003: 212). Besides, the transcendental perfections of quality are considered as the ten or six stages or levels of a Bodhisattva's career in which the last or ultimate stage is the transcendental perfection of wisdom (*prajñā-pāramitā*).

Therefore, the *prajñā-pāramitā* is the last level of Bodhisattva's idea during his/her career mentioned in ten perfections of early Buddhism or six perfections of later Buddhism.

Prajñā-pāramitā sūtra and _Śūnyatā_ doctrine of Mādhyamika system

The term '*prajñā-pāramitā'* reminds of one of the most important sūtras of Mahāyāna tradition, whose role is as a concise summary of the key doctrines of Mahāyāna Buddhism (particularly *Mādhyamika* system), and as a supernatural power of *dhāranī* in *Vajrayāna* tradition.

Furthermore, the *prajñāpāramitā* sūtra, of which the earliest version considered as *astasāhasrikā prajñāpāramitā*, was probably put in writing in the 1st century BCE (Mäll 2005: 96). And it is believed that this sūtra was translated into Chinese in the second century C.E by Lokaksema (Hirakawa 1993: 248), an Indo-Scythian Buddhist monk came from Kusāna (Kushan) dynasty of Northwest India.

In addition, Xuan-zang (hsuan-tsang), returned to China from India in 645 C.E. (Conze 2008: 21), with three copies of the *Mahā-prajñāpāramitā* sūtra (Great *Prajñāprāramitā*), in 600 fascicles. Later then, he translates the *Prajñāpāramitā hrdaya* sūtra, the smallest version with two hundred-fifty characters only. Today, this smallest version is recited and memorized everyday in most ritual of Mahāyāna tradition as the most common sūtra, particularly in Asian Buddhist countries.

Now it is time to move to the philosophical background, a great theme of the *Prajñāpāramitā* is *śūnyatā* (emptiness) – the emptiness of all things that we might be tempted to think truly and ultimately exist of and in themselves. Adherently, all *dharmas* are like dreams, magical illusions, reflected images, like the moon reflected in water, a shadow, a magical creation, like the stars, dewdrops, a flash of lightning, etc. described in the *Prajñāpāramita Vajracchedikā* sūtra (shortly called as Diamond sūtra), they are there but they are not there, and if we reach out for them, we find nothing to hold on to.

Mādhyamika system is found by a famous Buddhist monk Nāgārjuna, whose writings appear to elucidate the fundamental theme of the *Prajñāpāramitā* sūtra (Perfection of Wisdom), particularly based primarily on the doctrine of two Truths, the doctrine of *Anātman* (no-self), and the theory of *Pratīyasamutpāda* (dependent origination) .

The fact that, the *Mādhyamika* system does not contain an elaborate philosophical argument, but simply try to point to the true nature of reality, especially through the use of paradox. The basic premise is a radical non-dualism, in which any dichotomist way of seeing things is denied. Therefore, phenomena are neither existent, nor non-existent, but are remarked by emptiness (*śūnyatā*), an absence of any essential, unchanging nature.

Conclusion

It is recognized that there are various ways of understanding the concept of *prajñāpāramitā* depending on particular period of Buddhist thought of two main divisions – Early Buddhism and Later Buddhism.

In early Buddhism, the period between Buddha's enlightenment and one hundred years after

Buddha's death, the main doctrine focusing on the way leading to the cessation of suffering, *prajñāpāramitā* thus, is recognized as the cessation of suffering - nirvana - the ultimate Buddhist goal of liberation.

In sectarian and later Buddhism, concept of *prajñāpāramitā* is esteemed as transcendental truth of the theory of the two Truths. Besides, relating to the doctrine of Bodhisattva's idea, the *prajñāpāramitā* is regarded as the last stage of six *pāramitās*.

At final stage, the *prajñāpāramitā* represents a genre of Mahāyāna Buddhist scriptures addressing the aspiration for the 'perfection of wisdom'. Adherently, *prajñāpāramitā* sūtra with fundamental philosophy of *'śūnyatā'* on which based the formation of Mahāyāna thoughts arise, particularly *Mādhyamika* system.

Through this paper, it may be possible to make a general connection of the concept of *prajñāpāramitā* among Buddhist thoughts from time of the Buddha until Mahāyāna Buddhism and may be nowadays. The world at present moment is facing with too much conflict between various clashes or political parties of the same nation or nation with nation, which makes dreadful suffering for human beings. Therefore, each person should have a deep insight or wisdom (*prajñā*) in seeking for the best solution in order to solve many universal problems in modern age.

References

1. Conze, Edward. 2008, *The Prajñāpāramitā literature*, 4th edn., New Delhi: Munshiram Manoharlal.
2. Dayal, Har. 1999. *The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature*, reprint, New Delhi: Motilal Banarsidass.
3. Garfiel, J.L.(trans). 1995. *The Fundamental Wisdom of the Middle Way*, New York: Oxford University Press.
4. Hirakawa. A. 1993. *A History of Indian Buddhism: From Śākyamuni to Early Mahāyāna*, ed. and trans. P. Groner, New Delhi: Motilal Banarsidass.
5. Horner, I.B. (Trans). 2004. *The Majjhima Nikāya: The Collection of The Middle Length Sayings*, vol.1, reprint, New Delhi: Motilal Banarsidass.
6. Lopez Jr, Donald S. 1988. *The Heart sūtra Explained: Indian and Tibetan Commentaries*, New York: State of University of New York Press.
7. Lopez Jr, Donald S. 2008. *Buddhism and Science: A Guide for the Perplexed*, USA: University of Chicago Press.
8. Mäll, Linnart. 2005. *Studies in the A□□asāhasrikā prajñāpāramitā and other Essays*, New Delhi: Motilal Banarsidass.
9. Murti, T.R.V, 1955. *The Central Philosophy of Buddhism: A Study in the Mādhyamika System,* London: George Allen & Unwin Ltd.
10. Warder A.K. 1999. *Indian Buddhism*, New Delhi: Motilal Banarsidass.
11. Williams, M. 1986. *A Sanskrit-English Dictionary*, reprint, Delhi: Motilal Banarsidass.
12. Woodward, F.L. (trans). 2005. *The Book of The Kindred Sayings*, vol.4, reprint, New Delhi: Motilal Banarsidass.

"Do not believe in what you have heard; do not believe in the traditions because they have been handed down for generations;
do not believe in anything because it is rumoured and spoken by many;

do not believe merely because a written statement of some old sage is produced;

do not believe in conjectures, do not believe in that truth to which you have become attached by habit;

do not believe merely the authority of your teachers and elders. After observation and analysis, when it agrees with reasons and it conducive to the good and gain of one and all, then accept it and live up to it. Pray do not, therefore, believe me when I come to the philospophical issues until and unless you are convinced of what I say, either as a sequel to proper reasoning or by means of a practical approach"

Holistic Point of Theravāda Tradition on Environmental Sustainability: ASEAN Countries Perspective

Mohd Irshad, Research Scholar, Department of Philosophy, Delhi University

Introduction

We are living in the age, in which, environment is a global threat to everybody, so, without having slightest cloud of doubt, we must accept that there is an urgent need for all of us as a society to emphasize upon environmental crisis and must come up with a practical as well as sustainable solution to find a sustainable strategies and solutions for occurring crisis on the large scale across the world. More or less, Every society has Its own system of thought to reflect upon any important issue or cause, having said that, as a global citizen we must think about this world as a whole, then only, to a considerable extent, we can arrive at a convenient solution to come over these environmental crisis those are growing up on the large scale around the world. If we follow our work on the basis of the largely dominating western environmental thought wherein humans are on the one side, and animals, plants, and nature are being placed on the other side, both have their separate existence. For that reason, in a system like that, we could not find a holistic and spiritual approach towards nature, it can help only in the terms of professional approach to nature which would really be a disastrous one, which is in exact contrast with the Buddhist tradition, and moreover, they have a natural way of understanding nature itself. They would consider Human and nature as one entity, rather than human or nature[1] as separate entity. Ajhan Pongsak emphasizes that harmony with the nature is the basis of true Buddhist morality he links Buddhism to nature:

"Dharma, Buddhist word for truth and teachings, is also the word for nature. This is because they are same. Nature is the manifestation of truth and his teachings, when, we destroy nature we destroy the truth and teachings"[2] *(bachelor and brown, 1992).*

Theravāda tradition did great a job to a considerable extent in ASEAN countries to preserve and conserve the environment. They (ASEAN) have a very significant role when it comes to the environmental issue or to say they have fought significantly hard to stop the degradation of nature. In Theravāda tradition, there are several *jātkas* stories (stories of Buddha's previous life), almost all of them convey a great moral value in itself to preserve Environment, among them, and half of the stories accepted by the Theravāda tradition have given priority to animals, usually as their central characters. There one famous story of a little bird;

A huge fire started burning in the forest, fearing for his life, the little bird flew up into the sky to escape. Later he observed that it is going to destroy the whole area of forest and all residing creatures, he fled to a nearby lake and quickly dipped his wings into the lake to gather the water. Then he returned back to the forest and flapped his wings furiously over the fire and he did it until the fire got extinguished completely.[3]

ASEAN countries have worked extensible for the ecological sustainability and forest preservation. Buddha praises that forest is meant for those people who are seeking to practice *dhamma,* so one can be one with nature. Succeeding the same tradition, Thich Nhat hanh, the influential Buddhist activist and Vietnamese Zen monk, referred often to ecological principles in his writings and talks on "inter-beings", the Buddhist teaching of interdependence, by which we can't separate human and nature, he further expounds it as:

"We classify other animals and living beings as nature, acting as if we ourselves are not part of it. Then we pose the question 'how should we deal with nature?' we should deal with nature the way we should deal with ourselves! We should not harm ourselves; we should not harm nature ... human beings and nature are inseparable" (Eppsteiner, 1988: 41)[4]

Environment Ethics in Buddhism is at the very core of its philosophy. Buddhism is one of the most prominent traditions in south East Asia which encourages people to think over ecological responsibility through various basic Buddhist ethical concepts. Traditional Buddhist attitudes of not injuring (*ahimsā)*, benevolence (*mettā)* and

compassion (*Karunā)* entail to "ecological" behavior are not limited to human beings only, however, it includes other whole range of non-living creatures therefore, it is concerned about the health of each subtlest or minutest creature in this manner.[5] Even, Peter Singer[6] claims, if a being suffers, there can be no moral justification for refusing to take that suffering into consideration (singer, 1995). Gautama Buddha himself was born in the forest under a tree and he attained enlightenment in the forest under the *Bodhi* tree, taught in the forest and passed away in the forest. This shows his fascination towards nature. Ecology has developed as a phenomenon on environment ethics with the increasing environment degradation and the crisis in the world.

To analyze the relation between the Buddhism and environment Thai forest tradition is the best example to put forth because they are contributing to the protection of plants and animals etc. while thousands of monks and nuns serve as an example of compassion for all living creatures. The Thai monk professor Phra Dharmakosajarn affirms, "If we employ our lives correctly, environmental problems could be solved through our religious teachings", further he adds that if religious adherents make an effort to understand more deeply their religious heritage, it would positively affect their behavior towards living things and Environment.[7] Moving on to further, Thai forest tradition is the branch of Theravāda Buddhism in Thailand that most faithfully holds to the original monastic tradition lay down by the Buddha. Buddhist forest monasteries have been the strong proponents of environment conservation and peace preservation in the region. As the royal ruler in Southeast Asia, Thailand, h .h. king bhumibol adulyadej made the following pronouncement (December 5, 1994)

"In order to make the forest flourish, it is not necessary to plant one more tree. What is more important is let the trees that are there grow of themselves and not to interfere with them. Just to protect them and not to harm them is enough"[8]

There are several Thai monks, those who have worked extensively towards the cultivation of environment values into the conscience of the maximum number of people. Even now, some have been continuing that tradition to protect the environment through holistic approaches towards environment; some of the noted contemporary figures are as follows in detail:

Buddhadasa Bhikkhu (1906-1993), is one of the pioneers in the field of environment conservation and protection. He never made a distinction between *Dhamma* and nature, for him, destruction of any of them would lead to the destruction of both. He coined the term "spiritual biocentrism"[9] which means, the destruction of nature, implies the destruction of *Dhamma*, and destruction of our *Dhamma* is the destruction of our humanity. Watsuan mokkh exemplifies Buddha Dasa's dedication to preserving a natural environment. Later on, he used *Anurak*[10]*,* as embodied in his life and work moreover, conveys a rich nuanced meaning close to its *pāli* roots: to be imbued with the quality of protecting, sheltering and caring for. By Thai term *Anurak* means to him is the active expression of our fundamental empathy for all creatures and the earth that we discover by hearing the *Dhamma* in the "voices of nature". Therefore, *Anurak* in *Dhammic* sense is the active expression of our empathetic identification with all life forms-sentient, non-sentient, human beings and nature. We can clearly identify in his conception of "nature" that nothing is being excluded; on the contrary, each one of us has great responsibility to protect each other. This respect is not being carried out in the sense of duty, which is by its very nature a kind of forceful act, sometimes even if you are unwilling to perform any action, rather, by the virtue, of love and compassion.

P.A. Payutto, in the early 1990s Payutto addressed the question of the relationship between Buddhist *Sangha* and forests. His ground for giving the teaching on forest preservation was based on the teaching of the Buddha and monastic traditions of early Buddhist monastic practices. He emphasized on mental defilement a lot because they are the main cause of our sufferings, these mental defilements *(kilesha)* are the main teachings of Therāvada Buddhism, requires separation anxieties, and stress, during the time of Buddha the forest was the preferred environment for solitude required for achieving this state of mind. Payutto supports a more human-centered position that values forest, or nature more broadly construed, as the ideal venue for the pursuit of Buddhist spiritual goal and moral values. It is a position that supports conservation on the grounds than an unspoiled natural environment best promotes the Buddhist spirituality. He blames dominant western environmentalist thought for the destruction of the environment because of three erroneous beliefs: humankind is separated from nature, human beings are master of nature and happiness results from the acquisition of material goals.[11] He believes until the human beings are not seen as a part of nature, this degradation of environment will continue.

Sulak Sivarika, a social activist, and author,

widely known for international engaged Buddhist movement. He has established a conference center in Thailand called Wongsanit ashram, to exemplify the ideal of simple living close to nature. He quotes Gandhi: "Living simply so that others may simply live".[12] His holistic approach towards Buddhist environmental ethics based on the principle, which has ingrained respect for all creatures irrespective of their status living or non-living creatures. He has borrowed the term "inter-becoming" from Thich Nhat Hanh, which is being achieved through the awareness and leads to empathetic identification with and compassion action towards all life forms. He criticized free market capitalism because it creates the culture of greed, selfishness, and acquisitiveness rather than promoting the simplicity, responsibility and care that are essential to preservation and conservation nature. He writes:

"For the new generation in Asia, we need to articulate a value system that reflects…our need for leisure, contemplation, love, community and self-realization. We also need to describe the economy within its social and ecological context".[13]

He idealizes the rural Thai environment of relatively small self- sustaining communities living in harmony with the natural environment, but he does not want us to go back to pre- modern time, rather a society, which is more democratic, egalitarian, inclusive and compassioned society.[14]

Chah Subhaddo (1918-1992) also followed austere Thai forest tradition, living in the forest for years and begging for alms food. In this way throughout his life, he had been a great advocate of nature and peace through his tradition.[15] It is his part of the ethical approach itself that he had started two forest monasteries in Thai forest tradition, both of them had propagated Theravada tradition all over the world, but the main idea is that his tradition has expressed concerns for nature; it has been part of their essential teachings in monasteries.

Buddhism talks about the deep ecology,[16] which is a set of enormously spiritual and emotional account of empathy to all creatures, whether they are living creature or non-living creatures. Buddhist environment thought is a shift from anthropocentric to eco-centric, which is much pure, holistic and deep to understand nature. It discusses the very fundamental nature of our being and its association with nature, further, it goes beyond the self because as such no substantial self (*anattā)* exist in the teachings of Buddhism, this unique concept of non-soul (*anattā)* involves a great deal of interdependence with other forms of life in nature. *Dhamma* and nature are being considered as one, therefore, a person can't think in isolation as it has been done in the thought of Descartes, wherein he tried to establish the hierarchy of the human intellect or mind.[17] Deep ecology goes beyond the basic assumptions and tries to reflect at from a completely different position or can be called as new worldview where people are part of holistic nature or they are interdependent and integrated, which is more holistic than dominant discourse of environment existing nowadays. Moreover, Nature and oneself are dependent and subject to change subsequently, they can realizes their interconnectedness and interdependent through the presses of the cultivation of mindfulness and concentration. Even Albert Einstein wrote,

"A human being as part of the whole called by us 'universe', a part limited in time and space. He experiences himself, his thoughts and feelings, as something separated from the rest-a kind of optical delusion of his consciousness. This delusion is a kind of prison for us, restricting us to our personal desires and to affection for a few persons nearest us. Our task must be to free ourselves from this prison by widening our circle of compassion to embrace all living creatures and whole of nature in its beauty" (Einstein, n.d.).

It questions the way we conceive about ourselves, it takes us from conceiving ourselves as individual towards seeing ourselves as part of this great earth along with other feelings of loving kindness (*karunā)* And compassion (*mettā)* Even these were the top priority for the Buddha, In Dhammapada 3, the Buddha states,

"Hatred is never appeased by hatred in the world; it is appeased by the love. It is an eternal law"[18]

It is a holistic approach to facing environmental problems which bring together thinking, feeling, spirituality and action. This approach leads to conservation and protection of Environment. Conservation is kinds of management which yields the sustainable be fit to present generations of all life, While maintains, its potential to meet the needs and aspirations of future generations.

There are three characteristics of being; suffering, impermanence, and no-self, which are essential to understanding deep-holistic-ecological thought of Buddhism in the right picture, so all of this become important to understand the nature of being. Actually, they are intertwined with each other. Nature of being could only be understood if we know

Buddhist doctrine of dependent origination (*paticcasamuppāda)* which is finding new form in the ecology movement. If Ecological systems are the manifestation of interdependence, then protecting ecosystems is a way to protect dharma. It also leads us to think about our own self, and from there on doors will open up to attain knowledge of self in its true nature, hence, questions arises, does self really exist?, if it does, then, what is the nature or status of it in the universe, should we call it as a substantial self or a conditioned self? Answer of each such question resides in the Theory of impermanence, which is based on the conditioning of events, ideas, thought etc. it moves on further to establish that, as one event is caused by another event nonetheless, that effect which has been produced out, can't go back to point out it cause so this nexus of interdependence in human-nature-social matrix exist.[19] So in that ways, this basic theory of Buddhism does not allow us to think in isolation because our thinking is not independent, rather, it's being conditioned by previously occurred events. Later on, this dependency takes us to think about Environmental aspect which includes our interdependency on animals, trees, plants, and rocks etc. Even the five moral precepts; abstaining from killing, abstaining from stealing, abstaining from sexual misconduct, abstaining from falsehood and abstaining from taking intoxicants are grounded in these characteristics. The Sense of deeper environmental concern is grounded in each moral precept like the first precept does not allow destroying anything, alike in other precepts wherein they provide ways to stop people from anything of any such kind which leads to disharmony or disorder in nature or society, so forth and so on.

Conclusion

We have seen that as per on the daily basis environmental crisis growing up on the regular basis. To resolve this crisis, we can have a holistic model of Buddhism which is still in practice in the large part of Theravāda tradition. Therefore, those who considers nature as a secondary or says nature is to serve human should understand that there are no such thing which is permanent, everything is conditioned or dependent on other things, so we can't make a distinction as such that human and nature are different, although they are the same and one with each other, so we can't predicate, whether nature is dependent on sentient beings or sentient beings are dependent nature. Unless or until we will make differences between humans and nature, we can't provide the ultimate solution to all existing or forthcoming environmental crisis.

References:

1. Padmasiri De Silva, Environmental Philosophy and Ethics in Buddhism, MACMILLAN PRESS LTD, London, 1998, page: 31
2. Peter Harvey, An Introduction to Buddhist Ethics, Cambridge University Press, 2000, New York, Page: 181
3. https://buddhiststories.wordpress.com/2012/11/04/the-little-bodhisattva-bird/
4. Peter Harvey, An Introduction to Buddhist Ethics, Cambridge University Press, 2000, New York, Page: 151
5. Lambert Schmithausen, Buddhism and Nature, International Institute for Buddhist studies: 5-3-23 toranomon, minato-ku, Tokyo 105, Japan, 1991, page: 32
6. Peter singer is an Australian moral philosopher, he is widely known for his book “Animal Liberation” in the field of environmental ethics.
7. Roman Meinhold, Environmental Values: Emerging from Cultures and Religions of ASEAN Region, graduate school of philosophy & religion, assumption university, Bangkok, 2015, page: 32
8. Daniel H. Henning, a Manual for Buddhism and Deep Ecology, Buddha dharma education association Inc, 2002 http://www.buddhanet.net/pdf_file/deepecology.pdf, page: 89-90.
9. Donald Swearer, Environmental Ethics: Thai Buddhist Perspective, enlight.lib.ntu.edu.tw/FULLTEXT/JR-MAG/mag539537.pdf page:50
10. Ibid, Page; 50-51
11. Donald Swearer, Environmental ethics: Thai Buddhist Perspective, enlight.lib.ntu.edu.tw/FULLTEXT/JR-MAG/mag539537.pdf, page; 55
12. Ibid, Op.cit. Page: 176
13. Daniel H. Henning, A Manual for Buddhism and Deep Ecology, Buddha dharma education association Inc., 2002 http://www.buddhanet.net/pdf_file/deepecology.pdf, Page, 32.
14. Idid, Page: 90
15. www.accesstoinsight.org
16. Norwegian Activist and Philosopher Arne Naess introduced this term, in early 1970's.
17. Rene Descartes (1596-1650) was a French Philosopher. Who is famous for his mind and body dualism, famously said “I think therefore I exist'”.
18. Daniel H. Henning, a Manual for Buddhism and Deep Ecology, Buddha dharma education association Inc., 2002 http://www.buddhanet.net/pdf_file/deepecology.pdf, page: 56
19. PadmaSiri De Silva, Environmental Philosophy and Ethics in Buddhism, MACMILLAN PRESS LTD, London, 1998, page: 116.

Religion as a means of Global Peace

Ashwani Kumar, Research Scholar, Dept. of Buddhist Studies, University of Jammu, Jammu

Introduction:

Religion, as we understand it is philosophy and ethics put into practice. In other word when philosophy becomes our conduct in life it is religion. Religion is not practising rites and rituals but it is inculcating those higher values of life that men live by. In short that philosophy by having which our life becomes richer and more sublime, is religion. Philosophy has more of reason and argument but religion is behaviour and conduct. Thus the religion may be called the action plan of the philosophy. There are religions such as Christianity, Judaism, Islam and Sikhism each emphasized the supremacy of one God who transcends the natural world. The very idea of such a God implies a clear distinction between the holy all powerful deity and finite, imperfect creature.

A single religion such as Hinduism is so diverse that it defies ready classification beyond saying it reflects mainstream India life and culture. Hindu have followed to or believe in pantheism (all is God) pan-en-theism (god is in everything), polytheism (there are many Gods perhaps thousand or million), henotheism (there is one high God), theism (there is but one god), dualism (there are two ultimate realities) monism (reality is one, any particular distinction or individuals or ultimately illusions) and so forth. It is not clear that the definitions of religion included any references to God, Gods or supernatural. Some humanistic religion denies the existence of any form of ultimate reality. It is very important to describe that the Buddha did not created it a new religion he simply searched the noble path i.e. noble eight fold path but his disciples created it as a religion, further he simply shows the right path to the human being which was able to realise the actual meaning of taking birth on this earth.

The religious leadership had been given from ancient time by the saints and sages setting up the norm and standard of behaviour for the society. They stressed on duties and obligation rather than right and privileges.

Understanding and ways to spread peace:

Peace and harmony could prevail only if we could negate our aggressive egos as for as possible and consider the want and needs, of other person. In this connection self-analysis is very important. Unless we understand our strengths and weakness and adjust to the environmental and to those around us. We must expect quarrels and controversies. It is only the person who is duties conscious, who could adjust his environment properly.

Peace among person group or nation is not possible without good will towards one another and good will towards one another is not possible without acknowledging God and God was not honoured and glorified, good will among person has not been achieved, and then peace on earth is almost impossible. So we love to become religious and make inter-religious dialogue to build a better world, free of nuclear damage, the arms race poverty ignorance, discrimination and ensuring development dignity and justice for all.

Impact of Buddhism on world:

Buddhism is historically the most important religion, because it was the most tremendous movement that the world ever saw, the world vastest spiritual wave ever to burst upon the human society. There is no civilization on which its effects have not been felt in some way or other. The followers of the Buddha were most enthusiastic and very missionary in spirit. They were the first among the adherent of various religions not to remain content to limited sphere of their church. They spread far and wide they reached into darkest Tibet; they went into Persian, Asia minor; they went into Russia, Poland, and many other countries of the western world. They went into japan, Korea, Japan; they went into Burma, Siam the east India and beyond.

Hinduism

Traditionally Hinduism has adopted an ancient Sanskrit phrase “Vasudha Eva Kutumbakam which translate as “the World is one family”. This phrase clearly shows that as in the eyes of father and mother all sons and daughter are equal and they do not discriminate any of them. Similarly if we study

the Rig Vedas we will find there was no caste system there was varan system (based on work) and living together with happiest manner and after some time some self-interested people changes its form from varan to caste system from that point of time in Indian history the war of caste system is running. And in Hinduism the most dangerous diseases is caste system still there is no medicine has been prepared for curing this diseases permanently.

Nature of the Buddha dhamma:

Before I describe the nature of the Buddha dhamma and bring out its salient feature, it is very important to disclose and to make a distinction between Buddha dhamma and Bauddha dhamma like Hindu dharma or Jain dharma seems to have a sectarian connotation. It seems to be meant exclusively for those who call themselves Buddhist and not for Hindus or Jains. Hindu dharma or Jain dharma also is meant respectively for the Hindu and Jain not for Buddhist, Buddha dhamma on the contrary does not have any such narrow and sectarian connotation. It is the Dhamma taught by the Buddha. And because the Dhamma taught by the Buddha is based on universal law that operate in the Moral spiritual World, so it is universal. It is also founded on practical experience and reason, so it is scientifically and based on universal law. So it is universal on character. All can follow it, are free to follow it and derive benefit from it.

As physical law operate in the physical world with inexorable regularity, so there are certain laws which operate in the moral spiritual world. As fire cannot be extinguished by fire, so enmity cannot be appeased by enmity (Na hi verena, Sammantidha kudacanam1). Fire requires water to douse it, to put it out so enmity can be appeased only by friendliness, now hatred (averena sammanti). This is eternal law.

There is another law which operates as inexorably. If we develop negative feeling and plan to harm other, before we harm others, we are first ourselves harmed by our negative feeling.

Salient feature of the Buddhism:

Buddhism is a religion of truth as much as it is a religion of good and purity. It teaches us not to commit any evil and to do well. It teaches us not to tell a lie but cling to the truth. Truth is the supreme goal and it is regarded as a highly valuable virtue from the Buddhist point of view. Buddha declares: the true nature has been revealed to me, which amount to saying that he comes to know thing as they really are:

1. Buddhism is a scientific religion; as the medical science do not state without any strong practical evidence similarly Buddhism too, do not belief in any dogma.
2. The only and only purpose of the Buddha's dhamma is to distribute the fruit of pleasure and happiness to the whole world and make peaceful environment.
3. It talks about equality and justice.
4. The Buddha rejected the caste system which was traditionally based on birth and gave importance to the good character of man and said he /she can become a Brahmin or noble man through their positive karma.
5. Buddha gave equal status to women as the men have.
6. Buddha stopped the animal sacrifices on the name of God. “Once he said to the king that if the sacrifices of lamb help you to go to heaven, sacrificing a man will help you better; so sacrificing me”. The king was astonished. Really Buddha eradicate this blind faith which was prevailing in the society, still it is prevailing but If we think deeply that can the sacrifices of an animal can reduce our bad kamma ? We will find the answer of this question is no. On the basis of our action we get the result and this is the universal law.

Buddha's major discovery: Four Noble Truths:

Four noble truths form the most important teaching of the Buddha. Infact this is the cornerstone of his philosophy. Both the school of Buddhism viz Hinyana and Mahayana, despite of their differences in some respects regard the four noble truths as his basic teaching. The Buddha understood these truths at the experimental level. He did not profound by exercising his intellect nor by making use of his logical judgment does either as other philosopher do

their philosophy. But he propounded them because he experienced them – of the three kind of panna (knowledge) sutamaya knowledge based on hearing from other), Cintamaya (knowledge based on one's own reading books and reflection) and bhavanamaya (knowledge born out of one's own experience) these truths are born out of his bhavana maya panna. Therefore they are truths that cannot be controverted. Theories propounded by virtue of intellect and logic is not always infallible, but theories propounded at the experimental are always infallible. The Buddha who becomes an Ariya (noble) after attaining nibbana by extirpating all desires saw these truths. Therefore they are called arya satyas or noble truth i.e. the truth seen by an arya.

In the Dhammacakkappavattana sutta, the Buddha each of the four noble truths very thoroughly.

The first aspect of the four noble truths is that there is Dukkha. Dukkha is not physical suffering, but it is a mental and cosmic. It is not only suffering, pain misery and sorrow but in the words of Walpole Rahula has a deeper philosophical meaning and connotes enormously wider sense. In addition to suffering, it includes deeper ideas such as imperfection impermanence, emptiness and insubstantiality etc.

The 2nd noble truth should be understood. That tanha (craving is the cause for Dukkha is saccanana. Broadly speaking there are many types of tanha, Kama tanha, bhava and vibhava tanha. If we thoroughly understand why and where they arise then we will understand the aspect of second noble truth. This is Pahatabbam i.e. the cause of craving should be eliminated. And one has eliminated the cause of craving that the aspect of second noble truth is called pahinam (eliminated.

The first aspect of third noble truth is that Dukkha can cease to be. The Buddha saw it clearly. He explains through the law of paticcasamuppada that cause gives rise to effect and he also explained it as clearly that if the cause is removed no effect can came into being. Dukkha Nirodha is sacca nana. The cause of Dukkha has got to be eliminated is Sacchikatabbam. This is the second aspect of this truth. And one has realized that the cause is removed is the third aspect of this truth. This is Sacchikatam.

The four noble truths also, like other has three aspects. That there is path leading to cessation of suffering (Dukkha) is what is called the saccanana of the four noble truths. In order to end suffering one has to walk on this path this aspect of truth is called bhavetabba. It mean one has to walk on this path again and again, time and time again (bhavetabbam) because, without walking on this path one cannot end Dukkha the Buddha said tumhehi kiccamatappam akkhataro Tathagta. One who has walked on the path of Sila, Samadhi and panna and extirpated Dukkha is said to have developed the path.

These four noble truths have been arranged in very scientific and remind us the method adopted by Ayurveda. This branch of science talks of diseases, its cause and its medicine unless a physician puts his figure on the cause of the diseases, how can he cure it. Further for removing the suffering we have to follow the eight fold noble path.

Eight fold noble path (Ariya- astangika marg):

These are the ways through which we can make a happy life and even can attain Nibbana but in the present era it is very difficult to walk on this path

The four noble truths and the Eight fold noble path form the basic fundamental of Buddhist teaching. The eight components of paths are:

1. Samyaka-dithi (right view; perfect understanding.
2. Samyaka- samkalpa (right resolve).
3. Samyaka-vak (perfect speech).
4. Samyaka-karmanta (right action or conduct).
5. Samyaka- ajiva (perfect livelihood).
6. Samyaka-vyayama (right efforts).
7. Samyaka-samriti (right recollection).
8. Samyaka-Samadhi (perfect collectedness-right meditation).

These are noble eight fold path which teach and show the right path to an individual and make him alive and purpose of living

Buddha's four Brahamvihara:

Metta (loving kindness) Karuna (compassion) Mudita, (sympathetic joy), and upekkha (equanimity) are called four Brahamvihara. They are man's sublime's state of mind they are virtue which when cultivated make man good, great, noble and serviceable. Man is endowed with immense and

inconceivable potentialities. We can become a criminal and we also can become a saint. What is requiring? Is the exertion of his will power to cultivate good qualities and make himself noble, kind, sympathetic and equanimous?

We should develop loving kindness toward all beings and compassion for all who are trouble. His heart should melt when he see being in trouble and he should want to remove it. he should never feel jealous of others, even if one make more progress and achieve greater prosperity, he should not have an uta in jealous in him.

Metta: metta transcends all boundaries of caste, race nation, religion, political affinity, professional brotherhood and any other consideration. Which man divides man into different groups? Metta is shown to all without discrimination without any distinction of friend and foe and without any distinction of love and hate. In the words of the Narda Thera, just as the sun sheds its rays on all without any distinction even so sublime, metta bestows its sweet blessing equally on the pleasant and unpleasant on the high and low on the vicious and virtuous, on man and women and on human and animal.

Karuna (compassion): it is the second virtue which when cultivated sublime mans, make him soft, make him rid of hard-heartedness and cruelty. It is defined as that which affects a man to see other in trouble and suffering. When man is endowed with his feeling he does not want to inflict pain on other. His heart melts to see other suffering and want to remove all their suffering. He makes all effort to do so. He wants to help other even at his own cost without caring for his comfort and convince, without caring for his own life. Karma is synonymous with ahimsa (non- injury, mercy friendliness love). Man endowed with this exalted feeling combats the suffering of other and destroy them. The characteristics of karma (compassion is to remove the suffering of other, its function is not tolerate others suffering.it is manifested in ahimsa and its immediate cause is the helplessness of sufferers. Compassion is opposed to cruelty, hard heartedness. There are many in this world, who badly need compassion, the physically ill and the mental sick, the poor and downtrodden who have their life in abject poverty, the illiterate who do not understand what their right are and how they can ameliorate their condition the servant who are ill-treated and justice is not meted out to them, the women who are treated as second rate citizens of the world, the old who are not looked after by their children, the beggar who are compelled to go begging-all needs our compassion. Unless we have compassion for them how can we open charitable hospital to treat the sick? Compassion makes us do altruistic works. It is because of this sublime virtue that many compassionate people are engaged in many social activities for the poor and needy. This is called socially engaged Buddhism in the present time.

The Buddha his great compassion always looked after the poor, the ignorant and the depraved and helped them better their life. The Buddha himself served the sick. He exhorted his disciple to attend upon the sick.

Mudita: it is the third sublime virtue (sympathetic joy). It is not merely sympathy which in most cases is passive but it is active in so for as it completely destroy jealousy. Mudita therefore, is antidote to jealousy. Narda Thera says the following about jealous. “One devastating force that endangers our whole constitution is jealousy. Very often some cannot bear to see or hear the successful achievement of others. They rejoice their failures but cannot tolerate to their successes. Instead of praising and congratulation the successful, they try to ruin, condemn the vilify them. In one way Mudita is concerned more with ourselves than with others as it tends to eradicate jealousy, which ruins oneself. On the other hand it aids other as well as since one who practise Mudita will not try to hinder the progress and welfare and others. One can easily rejoice over the successful of one's near and dear ones but it is very difficult to be happy at the success of one's enemies. Mudita is therefore is very difficult to practise, more difficult than metta and karuna.

But if Mudita is practised sincerely, if the poor rejoice over the rich, if the developing nation rejoice over the developed nation, if the people belonging to one religion are not jealous of the people following another religion. So if the individual and groups practise Mudita the world will become a paradise.

Upekkha: it is a great quality which abandons raga and dosa. The chief characteristics of upekkha is impartial distinction between good and

bad, between the saint and sinner, if this sublime and ennobling virtue is practised, man will really become a great noble. Upekkha is like the quality of the earth which remains indifferent in all circumstances. Whatever sweet or fouls thrown on it, it does not react. It remains undisturbed, indifferent and equanimous. Man practising upekkha should be like the earth. In the word of Narda Thera "metta embraces all being, karuna embrace suffering, Mudita embraces the prosperous, and upekkha embrace the good and bad, the loved and unloved the pleasant and unpleasant. Thus the four Brahamvihara are quality of mind which make man noble kind, sympathetic and equanimous.

Buddha concept of patience:

In the Dhammapada itself there are many instances to show how the Buddha practised patience even when he was severely criticised, abused and attacked. "Patience is not the sign of weakness or defeatism but the unfailing strength of great man and women".

Na hi verani-sammanti dha kudacanca
Averenacasammanti-esa dhamo sanatano

The Buddha said that angered is conquered by love. "Hatred never ceased through hatred in this world; through love they can cease". This is eternal law.

Buddha say's patience and love both are the biggest weapons through which we can win the heart of anybody and achieve any target of the life. It is indeed very need of these values because the whole world is full of suffering and suffering do not come outside the world, it comes due to lack of knowledge or proper understanding so the Buddha gave more emphasis on the mind. As the root of the tree controls the whole branches of the tree similarly mind is the base of all our positive and negative action.

Buddha's view on dhamma:

1. To maintain purity of life is Dhamma.
2. To reach perfection in life is Dhamma.
3. To live in Nibbana is Dhamma.
4. To give up craving is Dhamma.
5. To believe that all compounded things are impermanent is Dhamma.
6. To believe that Karma is the instrument of moral order is Dhamma.

The Buddha said that if the man follows these moral dhamma ultimately he would be able to reach in a position to understand the chaos which is prevailing in the society and makes his life better.

Five precepts (Panchsila) in Buddhism:

In many suttas regarding lay practice (Anguttara iii, 203), the Buddha clearly warned of the five vices, which are danger and enemies, heads to hell. What are the five?

1. Killing living beings.
2. Taking what is not given.
3. Sexual misconduct.
4. Telling lies.
5. Partaking of intoxicants.

One who has these five vices lives home life without self- confidence and spend his whole life under fear because he knows that one day I too kill by someone. So in this way all these above vices make the man weak to live a happy life.

The Buddha gave five virtues (Panchsila) which spread moral guideline and helpful in establishing peace in the society. These are as under.

1. Panapati veramani- sikhapada samadiya. (The taking of life, I undertake the training rule to abstain).
2. Adinnadana Veramani –sikkhapada samadiya (the taking of thing not given I undertake the thing rule to abstain).
3. Kamesu micchacara veramani –sikkhapada samadiya (sexual misconduct I undertake the training rule to abstain).
4. Musavada veramani sikkhapada samadiya (false speech I undertake the training rule to abstain.
5. Sura marya majja pamadatthama- veramani sikkhapada samadiya (intoxicant liquors spirit, and drugs that cause heedlessness; I undertake the training rule to abstain).

Conclusion:

In the essence almost all the religion has same motive i.e. to establish peace. The ways may be different but the objective is same. The Buddha said that mind is the fountain head of all the actions. Therefore going to war and fighting all are driven by our mind. This mind must be evil because it works under the influence of defilement like pride,

superiority complex greed and aversion. Why do we go to war? Either because we hate the people for some reason or other and try to defeat them or we have an eye on their wealth or we like to expand our kingdom or territory or influence. Hitler made a holocaust of the Jews because he hated them and considered his race superior to all races of the world.

So unless we purge our mind of these defilements we cannot fill our heart with love and compassion that is necessary requirement for planting peace in the world. So long as we burn the fire of jealousy, pride and superiority complex there is no chance of our being able to promote and plant peace in the world whenever we will not try to understand actual nature of the incident we cannot plant peace in the world.

References:

1. Angraj Choudary, Aspect of Buddhism, Eastern book linkers, first edition: 2009, p, 53
2. NIELS. NIELSE, JR. NORVIN HEIN FRANKE. REYNOLDS, ALANL. MILLE SAMUEL E.KARFF, ALICELR COWAN, PAUL MC LEAN TIMOTHY PAUL ERDEL, Religion of the world, ST.MARTINS press/New York, p,1-2
3. F.MAX MULLER, T.W.RHYS DAVID and SAMUEL BEAL, Golden book of Buddhism, Calrendon press, Oxford, UK in the 1880s, Lotus Press, new first edition 2006, P,9
4. En.wikipedia.org/wiki/world peace # Hinduism
5. M.N. Pathak, human life and teaching of the Buddha, Antique Publication new Delhi-11007, p, 154.
6. Angraj Choudary, Aspects of Buddhism, Eastern book linkers, first edition: 2009, page no .13-14.
7. Ibid, p, 222, 224,227,228.
8. Ibid, p, 240,243,245,246-250.
9. Mahinder.N. Gulati, Comparative Religions and Philosophies, Atlantic publication, 2008, p, 188-189.
10. Narda Thera, The Dhammapada Pali1 Text and translation with stories in brief end notes, 4rth edition 2538-1993, and p, 7- 8.
11. Dr. B.R. Ambedkar edited Dc. Ahir, Buddhist revolution and counter revolution in India, B.R. Publishing Corporation, page no.31. www.urban
12. dhamma.org/pdf /PDF Buddha course/11% 20 five% 20 percept.pdf. Dated 28-09-15.

न घर का न घाट का

पूर्व समय में बाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करता था। उस समय बोधिसत्व एक वृक्ष– देवता होकर पैदा हुए।

उसी समय एक गांव में कुछ मछुए रहते थे। एक मछुआ जाल लेकर अपने छोटे पुत्र के साथ तालाब पकड़ने गया। उसने पानी में जाल फेंका। जाल पानी से छिपे एक ठूंठ में जा फंसा। मछुए ने जब देखा कि वह निकलता नहीं है तो सोचा–– "कोई बड़ी मछली फंसी करा दूं। तब इसमें से कोई हिस्सा पाने की आशा न करेगा।" उसने पुत्र से कहा–– "तात! जा, मां से कह कि हमें बड़ी मछली मिली है और यह भी कह कि वह पड़ोसी से झगड़ा कर ले।"

पुत्र को घर भेजने के बाद वह स्वयं जाल को खींचने लगा। वह नहीं खींच सका। रस्सी टूटने के भय से उसने अपने ऊपर के कपड़े उतारकर जमीन पर रखे और पानी में उतरा। मछली के लोभ में, मछली को ढूंढते हुए, वह ठूंठ से टकरा गया। उसकी दोनों आँखें फूट गईं जमीन पर रखे कपड़े चोर ले गया।

वह पीड़ा से पागल हो, हाथ से आंखों को दबाए, पानी से बाहर निकला। कांपते हाथों कपड़े खोजने लगा।

इधर उसकी भार्या ने सोचा कि मैं झगड़ा करके ऐसा कर दूं कि कोई कुछ पाने के आशा न रखे। उसने एक कान में ताड़ का पत्ता पहना, एवं आंख में हांड़ी का काजल लगाया और गोद में कुत्ता लेकर पड़ोसी के घर गई। उसकी एक पड़ोसन बोली– "तूने एक ही कान में ताड़ का पत्ता डाला है, एक ही आंख में कज्जल लगाया है और गोद में कुत्ता लेकर घर–घर ऐसे घूम रही है जैसे यह तेरा प्यार पुत्र हो। क्या तू पगली हो गई है,"

"मैं पगली नहीं हूं। तू मुझे व्यर्थ ही गाली देती है, मजाक करती है। अब मैं मुखिया के पास जाकर तुझ पर आठ कार्षापण जुर्माना करवाऊंगी।"

इस प्रकार परस्पर झगड़कर दोनों मुखिया के पास गईं। मुखिया ने दोषी का पता लगाया। परिणामस्वरूप वही दण्डित हुई। लोग उसे बांधकर पीटने लगे–जुर्माना दे।

वृक्ष–देवता ने गांव में उसका यह हाल और जंगल में उसके पति की विपत्ति देखकर टहनी पर खड़े होकर कहा– "हे पुरूष! जल में भी तेरा काम बिगड़ा, स्थल पर भी। तू दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ। यह अधिक तृष्णा के ही कारण।"

उभतोभट्ठ जातक 1.14.139

Characteristics of Buddhist Arts in Amarāvatī

Kazumi Okabe, Research Scholar, Department of Buddhist Studies, University of Delhi

Introduction:

The major Buddhist relics of the Andhra region are found in the main basins of the Krishna River and the Godavari River. It is scattered along the Bay of Bengal. Besides Amarāvatī and Nāgārjunakondā, there are nearly fifty Buddhist temple sites included Ghantasālā, Bhattiprolu, and Jaggayyapeta and other minor regions. These Buddhist temple sites are known as Stūpa, but Guntupalli and Sankaram are also known as “cave temples”. Alongside of Gandhara in the Northwestern region of India, Buddhism flourished in South India widely. The Stūpa of Amarāvatī and Nāgārjunakondā are great and large stūpas in size. And, there are many sculptures and reliefs. These types of Buddhist arts are found in South India. In this article, I would like to illustrate the features of the Buddhist Arts of Amarāvatī in the Andhra region of India.

Historically, Sātavāhanas declined by the middle of the third century. One of the ancient dynasties named Iksvākus came to power in South India, but unfortunately, due to its collapse and the decline of commercial trade, Buddhism fell rapidly in southern part of India. After that, a British confirmed the existence of an archaeological site in Amarāvatī at the end of the eighteenth century. With this opportunity, the excavation work was started and by this excavation many magnificent limestone reliefs and sculptures were found. After the independence of India, the Archaeological Survey of India conducted the research and excavation in the Andhra region.

In addition to Amarāvatī, Buddhism spread to the lower Krishna area in the period around first century. It can be inferred that several stūpas were built and decorated with stone pillars. However, the point is still unclear whether that was in the early stages of the Buddhist art in South India. Although, they contain the influence of ancient Early Buddhist art, which is identified from the end of the second century B.C.E to the beginning of the first century C.E. in India. It seems that the uniqueness of the Buddhist art in South India has emerged from the first century B.C.E. to the first century C.E.

The Amarāvatī stūpa was large in scale. In South India, several decorated carvings are Buddhist arts. It is estimated that the stūpa was built in the pre-Christian era. However, sufficient investigation was not conducted during that time. Therefore, the excavation has lost its numerous evidences.

Undoubtedly, there is a question about the exact time of the construction of Amarāvatī stupa. A small imperial stone pillar edict of King Aśoka was found unearthed over there. Therefore, there is an opinion that it goes back to King Aśoka era, too. But the period of construction is not clear.

Sātavāhanas exercised their power throughout the area, therefore, the decorative art of stūpa flourished in the second century. It has clearly defined after the observation in the engraved inscriptions and the burin and the sculptures which were nearly of the relief form in the ancient early stages of Buddhist arts excavated in India. Therefore, it seems some unearthed sculptures dated back to the first century B.C.E.

The dimension of the Stupa has a circular base(49.3m in diameter), and four rectangular bases (7.2 m × 2.1 m) overhanging in the four sides. Each rectangular base has a set of five pillars and these pillars are known as "Ayaka pillars". The function of the “Ayaka pillar: is unknown. The 'Ayaka pillars' sometimes can be seen at the Buddhist sites in Andhra region.

In addition, regarding the large pillar shield, it was constructed (method) not as a newly added pillar head to the stūpa, rather it is thought that the old pillar shield was gradually repaired. In the ancient stūpa pillar shield of India, several kinds of pillar shields with different sizes as well as styles are mixed with a series of pillar shields inside. It is speculated that such an example probably is found only in Amarāvatī. The believers who supported the construction of the stūpa and the Buddhist priest who would have supervised the construction of added buildings that are deemed suitable for each era. Therefore, it turns out that they did not make the stūpa architecturally finished as the ultimate goal. The most important religious function that the construction of the stūpa was identified by a role to

donate pillar shields and Buddhist images and to give merit to the donors.

The characteristics of various decorative patterns were centered in the shape of lotus. It has a pillar column on the front side, a circular section at the center, a semi-circular section at the upper and lower ends, representing the lotus flowers pattern opened at the bottom. This form inherits the tradition of ancient early art of India. The kind of expression is delicate and brilliant.

Cakravarti-rājan is an ideal emperor in ancient India in the period, and well explained. The detail description can be found in the literature of Brahmanism, Jainism and Buddhism. Especially the Buddhist scriptures are depicted in various forms. The fact that Buddha was Cakravarti-rājan in pre-existence can be seen in some series of narratives. Regarding the story content of the king of Mandhātu, there are various svariations in depth and perhaps the tale described the mythical origin which was mentioned in Brahmanism and Hinduism. And at the same time, it was introduced to Buddhism, too. The enlightened Buddha and the ideal emperor's Cakravarti-rājan that dominates the world are often mentioned as parallel entities even in the scriptures.

Incidentally, in the ancient times in South India, Cakravartin's image was named after the 'Mandhātu-Jātaka' tale. It was created from the first century B.C.E. to the fourth century C.E. and the regions of Amarāvatī and Nāgārjunakonda were also included.

From these facts, it is thought that Buddhist monologues found uniqueness in South India which has emerged from first century B.C.E. to the first century C.E. while being influenced by ancient Early Buddhist art in the middle regions of India (late second century B.C.E to early first century C.E.).

Such types of evolution of tales depicted in the sense of depth expressively by the human beings were skilled to depict the lives of the Buddha. These types of scenes have influenced the surrounding people.

While inheriting the tradition of Sanchi and others, it will also develop into Ajanta mural paintings. The feature of the relief carvings of Bhārhut has no stereoscopic effect. Actually, three-dimensional expression cannot be found in Bhārhut's sculptures. On the other hand, this emphasized the characteristic of Amarāvatī with the three-dimensional appearance. The charm of Amarāvatī exhibits the softness and supple movement of the body with subtle unevenness and an extended human body expression, and it was depicted in depth. This kind of expression as well as the characteristic of the South Indian style of sculpture can be seen in South India and it differs from North India. There are guardian deity figures seen as Yaksa, Yaksī, but in particular it seems that Yaksī goddess was preferred.

The fact that Nāga, Cakravarti-rājan, Padmapāni Yaksa are selected as its iconic images alongside Illustrated Biographies of the Buddha, Jātakas and the Buddha statues, including the symbolic representation of Buddha can be seen in the stūpa of the Buddhist temples and such kind of faith was not only found in Buddha statue, but also in old Nāga, Yaksa in Andhra region.

Along with Jātakas and Illustrated Biographies of the Buddha such kind of stupa diagrams can also be found that it was fitted numerously in stūpa and consecration tower base and covered base. This was probably related to the situation of the priests and religious beliefs of this area, as compared with the fact that there are only a few Buddha statues.

In South India, the practice of Nāga faith is still strong; people are enthusiastically praying worshipers, setting up a snake carved stone called “Nagar” under the tree near the swamp and pond. The symbolic meaning for praying to Nāga brings great luck to worshipers as a source of life force and treasure and prosperity.

As one of the symbols of Buddha appeared in the illustrated Biographies of the Buddha in the Andhra region, it indicates a symbolic meaning 'flaming pillar'(Figure1). This is different from symbolic motif of a Buddha image until then and a way of using it conscious of the function of concretely representing the body of Buddha. Buddha is symbolized by 'flame pillar' and worshiped by people. The flame and the Buddha deeply combined together, and in that respect appears a close expression of the method of Buddha statue. The shaft pillar connecting the heaven and the earth refers to

the pillar of stūpa, symbolized in cosmology.

In a pose of a life-sized standing statue of Buddha has been excavated from some ruins. It is thought that it is after the end of the second century that a single three dimensional sculpture Buddha image will be created. And all examples represent the head with spiral hair. There is a big “urna” between the eyebrows, the eyes are wide open and the lips are thick. It turns out that flexible and sculptural shaping are the unique style and it differs from Gandhāra and Mathurā. However, most of the Buddha statue in three dimensional sculptures can be found in the pose of standing statues in the Andhra area. Most of the examples of seated figures are unknown, and examples in the collection of the Brooklyn Museum of Art are known in the United States. There is no doubt that the expression of the Buddha statue started in Gandhāra and Mathurā was also spread in these regions. However, in Amarāvatī, symbolic expression continued even when the expression of the Buddha statues were in existence. On the other hand, it shows the perseverance of tradition that does not express Buddha itself. Also, it is a characteristic that stūpa faith was persistent in this region. In South India, it seems that the traditional way of thinking that Buddha who entered nirvāna can not be expressed as "human" was deeply rooted. Also, in Andhra regional society, together with the Buddha statue subject to new beliefs, Hinduism, gods of folk belief such as traditional Nāga and Yaksa were mixed and believed.

In Gandhāra and Mathurā, the Bodhisattva statue was exhibited in parallel with the Buddha statue, whereas in Amarāvatī the statue of bodhisattva can not be found except Prince Siddhārtha statue is depicted. Secondly, they do not dare to make a Bodhisattva statue.

When considering the circumstances surrounding the statue of Buddha in the Andhra region, in particular the tradition of symbolic expression of early ancient Buddha remained strong and the stūpa worshiping was persistent. Therefore, even though Buddha statue appeared, Buddha worship did not replace stūpa, so it can be seen that stūpa and Buddha statue were equal. Also, with Buddha statue and stūpa's faith, this can be imagined that gods such as Hindu statue and folk belief Yaksa, Nāga, Hero gods were believed.

At the inscription on The Great Stūpa at Amarāvatī, there were many donations from monks and others. After that, the contribution of the lay believers increased. Moreover, there were many donations by women such as rich merchants, their wives and daughters, and their families. Therefore, it can be said that Buddhism was already familiar to women during this time.

In Andhra district, although statues other than Buddhism, including Yaksa, are incorporated in Buddhist art, Nāga, Cakravarti-rājan, who lined up shoulder with Buddha statue as seen in a series of images in front of the base of the stūpa, Padmapāni Yaksa was not completely dependent on Buddhism, it might have been preserved with Buddha statue in practice of faith equally.

As a theme of Buddhism, there is overwhelmingly some Jātakas and illustrated Biographies of the Buddha. On both sides of the pillar which is shield inside and outside are embossed as a narrative figures representing the legend of Buddha. The stone board embossed on the main body of the stūpa and in the foundation appears the narration of the Buddhist figure and floral patterns, and the whole stūpa was richly majestic in relief. In particular, the story of Cakravartin, "Mandhata Jataka", was favored in South India. The tradition and inheritance of Sanchi develops as an expression in narrative by demonstrating the early, illustrated Biographies of the Buddha as a symbolic expressions of Buddha represented by sacred trees and Dharmachakra as well as new symbols such as “Flame pillar” and “Dharmachakra pillars”, or “the empty throne” (chair), stands out for expressions of the existence of Buddha. Moreover, even though Buddha statues were built in South India, as a symbolic representation of these Buddha which flourished exactly at the same time, it continued in parallel in part.

The expression of the Buddha in the Andhra region began with traditional expressions of ancient times identified as symbolic objects. Through transient expressions such as “the statue of Buddha” and “flame pillar” as a motif, came to build the Buddha statues from the end of the second century to the beginning of the third century.

Besides the decline of Sātavāhanas in the first

half of the third century, the activities of Buddhist art declined in Amarāvatī. However, later, the characteristics of Amarāvatī arts including relief sculpture were inherited to Nāgārjunakonda.

Figure1. Flaming pillar
(Source: The British Museum)

Reference

Akira Shimada. Early Buddhist Architecture in Context: The Great Stūpa at Amarāvatī （ca,300 BCE-300CE）, Boston: Brill, 2013.

Alexr. Rea *South Indian Buddhist Antiquities, Including the Stùpas of Bhattiprôlu, Gudivâda, and Ghantaśâlâ and Other Ancient Sites in the Krishna District, Madras Presidency, with Notes on Dome Construction, Andhra Numismatics and Marble Sculpture,* New Delhi : Asian Educational Services, 1989.

Barret, D. *Sculptures from Amaravati in the British Museums,* London: The trustees of the British Museum ,1954.

Burgess, James, and Georg Bühler. *The Buddhist Stupas of Amaravati and Jaggayyapeta in the Krishna District, Madras Presidency, Surveyed in 1882. Vol. I,* London: Trübner & Company, 1887.

Knox, R. *Amaravati Buddhist Sculpture from the Great Stupa,* London: British Museum Press, 1992.

Miyaji, Akira. *Sekai Bijutsu Daizensyu No.13,* Tokyo: Shogakukan, 2000.

Rao, P.R Ramachandra. *Andhra sculpture*, Hyderabad: Akshara, 1984.

Sivaramurti, C. *Amaravati Sculptures in the Chennai Government Museum (Chennai Government Museum, New Series General Section, Vol.IV),* Chennai:Udayam Offsets Chinthathripet,1998.

Internet Sources

- https://en.wikipedia.org/wiki/Satavahana_dynasty
- http://ejje.weblio.jp/content/Andhra+Ikshvaku
- https://en.wikipedia.org/wiki/Chakravartin
- http://www.britishmuseum.org/research/collection_online/collection_object_details.aspx?objectId=179427&partId=1&searchText=amaravati&page=1 (10.05.2017)

PANEL

Ven Bhikkhu Vishwabandhu, Publisher

Ven Bhikkhu Vishwabandhu was ordained as Samnera on the auspicious occasion of Ashok Vijaydashmi in October 2004, at Churu under Ven Dr Swarupnanda Mahathera of Sarnath. He got higher ordination(Upasampada) in May 2005 under the Preceptor Ven Dr. Bhikhshu Satyapal, and Acharya Ven Bhikkhu Kaccayana at New Delhi. He is the chairman of Buddha Education Foundation Trust under his guidance the trust has played active role in spreading the teachings of Buddha to all by organizing various events and publishing several publications.

Rev. Prof. Naresh Man Bajracharya, Patron

Rev. Naresh Man Bajracharya is the Vice-Chancellor of Lumbini Buddhist University in Lumbini, Nepal and a distinguished and the first Professor of Buddhist Studies at Tribhuvan University, Nepal. He has played a pioneering role in introducing Buddhist Studies discipline in Nepal. He is the author of many articles and books on Newār Buddhism and have contributed many lectures and papers in international conferences. He has been awarded Fulbright Scholar in Residence (SIR) for 2009-10 by US. As Fulbright SIR he served as a professor to Virginia Commonwealth University (VCU) in Virginia. Currently he is devoting his life in construction of a Vajrayāna Monastery in Lumbini.

Prof Karam Tej S. Sarao, Member, Advisory Board

Prof Karam Tej S. Sarao is an alumnus of the universities of Panjab, Delhi and Cambridge. After doing his Pre-University from Panjab University, he joined the University of Delhi from where he received the degrees of Bachelor of Arts (Hons) in History with Economics, Master of Arts (History), Master of Philosophy (Chinese and Japanese Studies) and Doctor of Philosophy. He was awarded the prestigious Commonwealth Scholarship in 1985 to study at the University of Cambridge (United Kingdom) from where he received his second Doctor of Philosophy in 1988. He was selected to occupy a professorial chair in Buddhist Studies at Delhi University and has been teaching Buddhism, its history and archaeology since then. Professor Sarao has also been a visiting fellow/professor at Dongguk University (South Korea), Chung-Hwa Institute of Buddhist Studies, Jinshan (Taiwan), Sorbonne (Paris, France), Cambridge University (UK), Visvabharati (India), and PS Royal Buddhist University (Cambodia). He has written more than sixteen books and published more than 150 research papers and articles. The Preah Sihanouk Royal Buddhist University, Phnom Penh (Cambodia) conferred the degree of D.Litt. (Honoris Causa) on him in 2011 for his special contribution to Buddhist Studies.

Prof. Hira Paul Gangnegi, Member, Advisory Board

Prof. Hira Paul Gangnegi is an alumnus of the University of Delhi. He joined the University of Delhi from where he received the degrees of Master of Arts, Master of Philosophy (Moral and Ethical Philosophy of Nagarjuna) and Doctor of Philosophy in 1995. He is a member of D R C, Department of Buddhist Studies, Board of Research Studies of Humanities, University of Delhi Court and Board of Studies, Himachal Pradesh University, Board of Studies, Punjab University, Board of Studies, Magadha University. He has successfully supervised more than fifty PhD theses and M.Phil. dissertations. He has published more than 80 research papers and articles. His present research interests involve history of Mahayana Buddhism, Tibetan Buddhism & Tibetan Language and Literature.

Dr Indra Narain Singh, Member, Advisory Board

Dr. Indra Narain Singh is an alumnus of the Deoghar College B. Deoghar and University of Delhi. He joined the University of Delhi from where he received the degrees of Master of Arts, and Doctor of Philosophy (Universal Flux in Theravāda Buddhism) in 1995. He is a member of Academic Council, University of Delhi Court and Governing body of postgraduate college, Manipuri. He has successfully supervised more than seventy PhD theses and M.Phil. dissertations. He has written more than five books and published numerous research papers and articles. His present research interests involve Buddhist Philosophy, Theravada, Mahayana, Logic & Tantra.

Dr Subhra Barua Pavagadhi, Member, Advisory Board

Dr. Subhra Barua Pavagadhi is an alumnus of the University of Delhi. She joined the University of Delhi from where she received the degrees of Bachelor of Arts, Master of Arts, Master of Philosophy (An Analytical Study of the Seven Factors of Enlightenment) and Doctor of Philosophy(A Study and Critical Edition of the Sacca-Sankhepa) in 1989. She is a member of Board of Research Studies, Departmental Research Committee University of Delhi and Centre for Socio-economic Research and Applied Technology and Delhi Gujarati Mahila Samaj. She has successfully supervised more than sixty PhD theses and M.Phil. dissertations. She has published more than fourty research papers and articles. Her present research interests involve Pali Based Buddhism and Abhidhamma Phiolosophy.

Dr Ram Kumar Rana, Member, Advisory Board

Dr. Ram Kumar Rana joined the University of Delhi in 1975 from where he received the degrees of Bachelor of Arts, Master of Arts, Master of Philosophy (Comparative Study of the Utsaha Parivartta of Saddharma Pundrika Sutra) and Doctor of Philosophy (A Study of the Buddhist Laity in Chinese Society from 4th to 8th Century A.D.) in 1989. He also has two years P.G. Diploma in Classical and Modern Chinese, Peking University. He is a member of Board of Studies and Academic Council Nava Nalanda Mahavihara and Advisory Committee for restoration of Xuan Zang Memorial Hall Constituted by the Ministry of Tourism Culture, 2008. He has successfully supervised more than eighty PhD theses and M.Phil. dissertations. He has published more than fifty research papers and articles. His present research interests involve Chinese Language and Mahayana Buddhism in China and East Asia.

Dr Sanghmita Baudh, Editor

Dr Sanghmita Baudh did her Bachelor of Arts in the year 1988 from Meerut University. She has double Masters in Sociology from Meerut University obtained in 1991, and in Pali from University of Delhi in 1993. She then proceeded to do her M.Phil in 1994 and Doctor of Philosophy in 2011 from University of Delhi. Her doctoral research focused on "Cultural and religious importance of the Bodhi-Tree in Historical Perspective". She has done Certificate and Diploma in both Pali language and Tibetan language. Presently she is editor of Bodhi Path a biannual magazine, and teaches at Department of Buddhist Studies, University of Delhi.

Dr Amita Kapoor, Co-Editor (English)

Dr. Amita Kapoor is Associate Professor at SRCASW, University of Delhi. She did her Masters from Jamia Milia Islamia in the year 1996, and her Ph.D. from the University of Delhi in the year 2011. During her Ph.D., she was awarded the prestigious DAAD fellowship to pursue part of her research work at Karlsruhe Institute of Technology, Germany. She is a member of professional bodies like OSA, IEEE, INNS, and ISBS. She has more than 20 publications in international journals and conferences. Her present research areas include Machine Learning, Artificial Intelligence, Robotics, Photonics, Social Networks, and Buddhism.

Mr Narotam Singh, Online Journal Production Editor

Mr. Narotam Singh is an author of the book "Joy with Meditation". He did his Masters in Electronics from Jamia Milia Islamia in 1996, and graduation from the University of Delhi in 1993. He is a member of professional bodies like IEEE, ISBS and TPC member of annual conference ICACCI. He has more than 10 publications in International Conferences and Journals. His present research interests involve Neural Networks, Robotics, Psychology, and Buddhism.

चिन्तेति चित्तं अर्थात् जो चिन्तन करता है उसे चित्त कहते हैं, किसी भी व्यक्ति द्वारा मनसा, वाचा और कर्मणा जो कार्य किया जाता है उसका आधार चित्त ही होता है। कुशल या अकुशल जो भी कार्य होता है उसका मूल बिन्दु चित्त है। धम्मपद में कहा गया है–

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा,
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं'व वहतो पदं।।

मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन ही प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होते है। यदि कोई दूषित मन से बोलता है या पाप करता है, तो दुःख उसका पीछा उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार चक्का गाड़ी खींचने वाले बैलों के पैर का।

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा,
ततो नं सुखमन्वेति छाया'व अनपायिनी।।

मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन ही प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होते है। यदि कोई प्रसन्न मन से बोलता है या काम करता है, तो सुख उसका पीछा उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कभी साथ नहीं छोड़ने वाली छाया।

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति।।

उसने मुझे डाँटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मेरा लूट लिया, जो ऐसा मन में बनाये रखते हैं, उनका वैर भान्त नहीं होता।

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनय्हन्ति वेरं तेसूपसम्मति।।

उसने मुझे डाँटा, उसने मुझे मारा, उसने मुझे जीत लिया, उसने मेरा लूट लिया, जो ऐसा मन में नहीं बनाये रखते हैं, उनका वैर भान्त हो जातो है।

Buddha Education Foundation (Trust)
E-mail:baudhs@yahoo.com,buddhaedu@ymail.com sanghmb@gmail.com
Contact No.: 9968262935, 8447637374
Website: http://bodhi-path.com